मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 119 ● वर्ष 13, अंक 3 ● जून 2023 ● दस रुपये

विशेष अंक
20 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

कर्नाटक चुनाव के नतीजे और मज़दूर-मेहनतकश वर्ग के लिए इसके मायने 7

धर्म के बाज़ार में एक और नया पाखण्डी – धीरेन्द्र शास्त्री 4

'द केरला स्टोरी': संघी प्रचार तन्त्र की झूठ-फ़ैक्ट्री से निकली एक और फ़िल्म 11

कर्नाटक चुनावों के नतीजे, मोदी सरकार की बढ़ती अलोकप्रियता, फ़ासिस्टों की बढ़ती बेचैनी, साम्प्रदायिक उन्माद व अन्धराष्ट्रवादी लहर पैदा करने की बढ़ती साज़िशें और हमारे कार्यभार

सम्पादकीय अग्रलेख

कर्नाटक चुनावों में भाजपा और मोदी-शाह की जोड़ी ने एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया लेकिन इसके बावजूद उसे चुनावों में क़रारी हार का सामना करना पड़ा। नरेन्द्र मोदी ने सारा कामकाज छोड़कर कर्नाटक चुनावों के प्रचार में अपने आपको झोंक दिया और हमेशा की तरह प्रधानमन्त्री की बजाय प्रचारमन्त्री की भूमिका निभायी। हार की आशंका होते ही नरेन्द्र मोदी और अमित शाह ने सीधे साम्प्रदायिक प्रचार और धार्मिक उन्माद पैदा करने की कोशिश की। लेकिन कुछ भी काम नहीं आया। इसकी कई वजहें थीं। पहली वजह यह थी कि जनता महँगाई, बेरोज़गारी और कर्नाटक में भाजपा द्वारा भ्रष्टाचार की नयी मिसालों को देखकर त्रस्त थी, दूसरा, हिन्दू-मुस्लिम और मन्दिर-मस्जिद के मुद्दे अब किसी नयी आबादी को भाजपा के पक्ष में नहीं जीत पा रहे थे और तीसरा, इन्हीं वजहों से लोग बदलाव चाहते थे। यह सच है कि पूँजीवादी चुनावी व्यवस्था के भीतर लोगों को किसी भी चुनावबाज़ पार्टी से किसी प्रकार के स्थायी बदलाव की उम्मीद नहीं है और यह उम्मीद जनता कई दशकों पहले ही छोड़ चुकी है। लेकिन जब वह एक पार्टी के कुशासन से तंग आती है तो उसे चुनावों में दण्डित कर अपने मन की भंड़ास निकालती है और तात्कालिक राहत की उम्मीद में किसी दूसरी पूँजीवादी चुनावी पार्टी को चुनती है। वोटिंग के पीछे स्पष्ट राजनीतिक पक्षधरता की बजाय अक्सर लेन-देन के समीकरण काम करते हैं कि कौन क्या दे रहा है, क्या वायदा कर रहा है, आदि। वजह यही है कि आम मेहनतकश लोग मौजूदा चुनावबाज़ पार्टियों में से किसी से भी किसी ढाँचागत बदलाव की उम्मीद नहीं रखते हैं। इसी सन्दर्भ में हम कांग्रेस की जीत को देख सकते हैं। राहुल गाँधी द्वारा निकाली गयी 'भारत जोड़ो यात्रा' और कांग्रेस द्वारा किया गया आक्रामक प्रचार कांग्रेस के लिए लाभदायक साबित हुआ और लोगों ने बड़े पैमाने पर कांग्रेस को वोट दिया जिसके नतीजे के तौर पर कांग्रेस को भारी विजय हासिल हुई।

लेकिन यह भी सच है कि भाजपा ने मोदी और शाह के नेतृत्व में हिन्दू आबादी के एक हिस्से का जो साम्प्रदायीकरण किया है, उसके कारण भाजपा के वोट प्रतिशत में कोई ज़्यादा अन्तर नहीं आया। साम्प्रदायीकरण के असर में कोर हिन्दुत्व वोटरों ने भाजपा को ही वोट किया गया है। कांग्रेस की जीत की प्रमुख वजह थी कि जो लोग भाजपा के खिलाफ़ थे, उन्होंने ज़्यादा एकजुट होकर कांग्रेस को वोट किया और जद (सेकु.) के वोट बैंक का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा खिसक कर कांग्रेस के पक्ष में गया। आगामी विधानसभा चुनावों में अन्य राज्यों और 2024 के लोकसभा के चुनावों में भी भाजपा की पराजय असम्भव नहीं है। चुनावों में तमाम बुर्जुआ विशेषज्ञ और विश्लेषक भी बता रहे हैं कि पूँजीवादी विपक्षी पार्टियों ने अगर 2024 के लोकसभा चुनावों में 450 सीटों पर भी भाजपा के खिलाफ़ विपक्ष का एक साझा उम्मीदवार उतार दिया

(पेज 9 पर जारी)

मणिपुर में जारी हिंसा : भारतीय राज्यसत्ता के राष्ट्रीय दमन और हिन्दुत्व फ़ासीवाद के नफ़रती प्रयोग की परिणति

● आनन्द सिंह

गत 20 अप्रैल को केन्द्रीय गृहमन्त्री अमित शाह ने घोषणा की नरेन्द्र मोदी के प्रधानमन्त्री रहने के दौरान पूर्वोत्तर के राज्यों में शान्ति और समृद्धि आयी है और मोदी सरकार के प्रयासों से चौतरफा विकास हो रहा है। लेकिन 3 मई से मणिपुर में शुरू हुई भीषण हिंसा ने शाह के इस हवाई दावे की पोल खोल दी। यह लेख लिखे जाने तक इस नृजातीय हिंसा में कम से कम 98 लोगों की मौत हुई और क़रीब 310 लोग घायल हो गए। इस हिंसा के बाद 37 हज़ार से ज़्यादा लोग अपने घरों से विस्थापित हो गए और वे 272 राहत शिविरों में रहने को मजबूर हैं। ग़ौरतलब है कि इस हिंसा को शुरू हुए एक महीने से भी ज़्यादा समय बीत चुका है, लेकिन अभी भी मणिपुर में स्थिति सामान्य नहीं हुई है। अभी भी वहाँ से हिंसा और आगजनी की ख़बरें लगातार आ रही हैं। मणिपुर में जारी असामान्य स्थिति का अन्दाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि वहाँ अभी भी इण्टरनेट सुविधाएँ बहाल नहीं की गयी हैं। मैतेयी और कुकी समुदायों के बीच दूरी और पार्थक्य अभूतपूर्व स्तर पर जा पहुँचा है और इम्फ़ाल घाटी में जो कुकी परिवार निवास करते थे वो या तो राहत शिविरों में रहने को मजबूर हैं या फिर वापस पहाड़ी इलाक़ों की ओर जा चुके हैं।

मणिपुर की इस भीषण नृजातीय हिंसा के कारणों को समझने के लिए हमें सतह पर दिखने वाले नृजातीय टकरावों के पीछे के उन मूलभूत कारकों को समझना होगा जिनकी वजह से मणिपुर सहित समूचे पूर्वोत्तर में तमाम नृजातीय समुदायों के बीच वैमनस्य बढ़ रहा है। मणिपुर भौगोलिक रूप से मोटे तौर पर दो भागों - पहाड़ी भाग और इम्फ़ाल घाटी - में बाँटा जा सकता है। पहाड़ी भाग में कुकी और नगा जैसी जनजातियों की बहुतायत है जबकि इम्फ़ाल घाटी में मैतेई नृजाति के लोग रहते हैं। घाटी और पहाड़ी इलाक़ों में रहने वाले अलग-अलग समुदायों के बीच तनावों, टकराहटों व हिंसा का पुराना इतिहास रहा है। मणिपुर के कुल क्षेत्रफल का मात्र 11 प्रतिशत होने के बावजूद इम्फ़ाल घाटी में मणिपुर की जनसंख्या का बहुलांश निवास करता है जिनमें बड़ा हिस्सा मैतेई लोगों का है जो आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से मणिपुर की सबसे प्रभुत्वशाली नृजातीय समुदाय है। मैतेई लोगों की आबादी मणिपुर की कुल जनसंख्या का 53 प्रतिशत है जबकि ज़्यादातर पहाड़ी इलाक़ों में निवास करने वाले नगा और कुकी जनजातियों की आबादी मणिपुर की कुल आबादी का क़रीब 40 प्रतिशत है। ग़ौरतलब है कि हिंसा का तात्कालिक कारण अप्रैल माह में मणिपुर उच्च न्यायालय द्वारा दिया गया एक फैसला था जिसमें राज्य सरकार को एक महीने में मैतेई समुदाय को अनुसूचित जनजाति की श्रेणी देने के लिए केन्द्र सरकार को सुझाव भेजने का आदेश दिया गया था। उसके बाद 'ऑल ट्राइबल स्टूडेण्ट्स यूनियन ऑफ़ मणिपुर' ने राजधानी

(पेज 10 पर जारी)

आपस की बात

हिन्दुस्तान यूनीलीवर, हरिद्वार में मज़दूरों का शोषण

हरिद्वार सिडकुल में फेस वॉश, बॉडी वॉश, कॉस्मेटिक्स सामग्री बनाने वाली कई कम्पनियाँ हैं। इसमें हिन्दुस्तान यूनिलीवर लिमिटेड भी एक है। इस कम्पनी में कई प्रकार के शैम्पू, साबून और क्रीम का उत्पादन होता है। पिछले एक महीने से मैं भी इस कम्पनी में ठेका मज़दूर के तौर पर काम कर रहा हूँ। कम्पनी में हज़ारों मजदूर काम करते हैं लेकिन इसमें ज्यादातर ठेका मज़दूर ही हैं जिनकी भर्तियाँ ठेकेदार अपने मनमानी शर्तों पर करता है। ठेका मज़दूरों को वेतन के तौर पर पहले ही बता दिया जाता है कि उन्हें 30 दिन के 9400 रुपये मिलेंगे!

साप्ताहिक छुट्टी का भी अधिकार मज़दूरों से भर्ती के समय ही ले लिया जाता है। अगर आपको छुट्टी चाहिए तो एक दिन पहले ठेकेदार को बताना होता है। ठेकेदार आपको छुट्टी के लिए मना भी कर सकता है और अगर आप बिना बताये या ठेकेदार द्वारा छुट्टी न देने के बावजूद छुट्टी कर लिये तो काम से निकाले जाने का खतरा बना रहता है।

इस बेरोज़गारी के माहौल में मज़दूर काम पाने के लिए ठेकेदारों की शर्तों पर भर्ती तो हो जाता है। मगर कम्पनी में एक बार काम पकड़ लेने के बाद उनके साथ ज्यादतियाँ चालू हो जाती हैं। जैसे कम्पनी तो आठ-आठ घण्टे की तीन शिफ्टों में चलती है लेकिन ठेका मज़दूरों को अपनी आठ घण्टे की शिफ्ट खत्म करने के बाद भी जबरन काम करने के लिए मज़बूर किया जाता है। जिससे बहुत सारे मज़दूर बीमार पड़ जाते हैं। अगर बीमारी के दौरान छुट्टियाँ ज्यादा हो गयीं तो भी काम से हाथ धोना पड़ता है। काम से निकाले जाने और दूसरी जगह जल्दी काम न मिलने के कारण मज़दूर सोलह-सोलह घण्टे काम करने को मजबूर होते हैं। इस कम्पनी में ठेका मज़दूरों से कभी भी कोई भी काम लिया जा सकता है। उससे लोडिंग-अनलोडिंग से लेकर मशीन पर, पैकिंग में या असेम्बली लाइन पर लगाया जा सकता है। इस कंपनी में आठ प्लाण्ट हैं, जिनमें किसी भी प्लाण्ट में ठेका मज़दूरों को कभी भी भेजा जा सकता है। ज्यादातर ठेका मज़दूरों को तीन-चार दिन बाद एक काम छोड़कर दूसरे काम या प्लाण्ट में भेज दिया जाता है।

कंपनी में ठेका मज़दूरों की चाय के लिए भी उचित व्यवस्था नहीं है। पर्मानेंट मज़दूरों के चाय लेने के बाद अगर चाय बच जाती है तो ही वो ठेका मज़दूरों को दी जाती है। कंपनी में जो पर्मानेंट मजदूर हैं उन्हें ठेका मज़दूरों से थोड़ी ज्यादा सुविधा दे दी जाती है। इस कारण ठेका और पर्मानेंट मज़दूरों में एक दूरी बन जाती है। इन थोड़ी सुविधाओं को देकर कंपनी मालिक ठेका और पर्मानेंट मज़दूरों के बीच भेद को बढ़ाने में सफल हो जाते हैं। ठेका मज़दूरों को लगता है कि पर्मानेंट मज़दूर हमसे बेहतर स्थिति में है और पर्मानेंट मज़दूरों को लगता है कि मालिक कुछ सुविधाएं तो उनको ज्यादा ही दे रहा है! बाकियों की स्थिति तो हमसे बदत्तर ही है! हम मज़दूरों को मालिकों के इस साजिश को समझना आज सबसे जरूरी है। तभी हम सभी मज़दूर संगठित होकर अपने हक़ के लिए संघर्ष कर सकते हैं।

– राजू कुमार
सिडकुल, हरिद्वार

'मज़दूर बिगुल' के सभी पाठकों, सहयोगियों और शुभचिन्तकों से एक अपील

'मज़दूर बिगुल' के सभी पाठकों, सहयोगियों और शुभचिन्तकों से हमारी अपील है कि अगर आप इस अख़बार को ज़रूरी समझते हैं और जनता का अपना मीडिया खड़ा करने के जारी प्रयासों की इसे एक ज़रूरी कड़ी मानते हैं, तो इसे जारी रखने में हमारा सहयोग करें।

1. 'मज़दूर बिगुल' की वार्षिक, पंचवर्षीय या आजीवन सदस्यता ख़ुद लें और अपने साथियों को दिलवायें।

2. अगर आपकी सदस्यता का समय बीत रहा है या बीत चुका है, तो उसका नवीनीकरण करायें।

3. अख़बार के वितरक बनें, इसे ज़्यादा से ज़्यादा मेहनतकश पाठकों तक पहुँचाने में हमारे साथ जुड़ें। (प्रिण्ट ऑर्डर बढ़ने से लागत भी कुछ कम होती है।)

4. अख़बार के लिए नियमित आर्थिक सहयोग भेजें।

हमें जनता की ताक़त पर भरोसा है और हमारे अनुभव ने यह सिद्ध किया है कि बिना कोई समझौता किये, एक विचार के ज़रिए जुड़े लोगों की साझा मेहनत और सहयोग के दम पर बड़े काम किये जा सकते हैं। इसी ताक़त के सहारे 'बिगुल' 1996 से लगातार निकल रहा है और यह यात्रा आगे भी जारी रहेगी। हमें विश्वास है कि इस यात्रा में आप हमारे हमसफ़र बने रहेंगे।

अपने कारख़ाने, वर्कशॉप, दफ़्तर या बस्ती की समस्याओं के बारे में, अपने काम के हालात और जीवन की स्थितयों के बारे में हमें लिखकर भेजें। आप व्हॉट्सएप पर बोलकर भी हमें अपना मैसेज भेज सकते हैं।
नम्बर है : 8853476339

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" **– लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं।
मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।
आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिए भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया इसकी सदस्यता लें और अपने दोस्तों को भी दिलवाएँ। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं। या फिर QR कोड स्कैन करके मोबाइल से भुगतान कर सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :

मज़दूर बिगुल,
द्वारा जनचेतना,
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787,
IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

QR कोड व UPI

UPI: bigulakhbar@okicici

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :

फ़ोन : 0522-4108495, 8853476339 (व्हॉट्सऐप)
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853476339
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 9289498250
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 10/- रुपये वार्षिक – 125/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 3000/- रुपये

दिल्ली के मेहनतकशों को बेघर करके जारी है जी-20 के जश्न की तैयारी

● अजित

देश के अलग-अलग जगहों पर इस साल होने वाले जी-20 शिखर सम्मेलन की तैयारियाँ चल रही हैं। तमाम शहरों का सौन्दर्यीकरण किया जा रहा है। आपको बताते चले कि जी-20 विश्व के प्रमुख देशों का साझा मंच है जो कि विश्व की अर्थव्यवस्था के साथ-साथ जलवायु परिवर्तन, विकास के अन्य मुद्दों पर काम करता है। हालाँकि इसकी हक़ीकत कुछ और ही है। इस वर्ष जी-20 की अध्यक्षता भारत कर रहा है और इस बार कई बैठकों के साथ शिखर सम्मेलन दिल्ली में हो रहा है। जी-20 की अध्यक्षता भी भारत के पास है साथ ही जी-20 के शिखर सम्मेलन की मेज़बानी भी भारत ही कर रहा है। इस बात को भारत के लगभग हर राज्य के प्रमुख शहरों में बड़े-बड़े होर्डिंग, बैनर एवं पोस्टर लगाकर बड़ी धूमधाम से प्रचारित किया जा रहा है, हालाँकि इसमें मोदी की वाह-वाह करने वाली कोई बात नहीं है क्योंकि इसकी अध्यक्षता बारी-बारी से सभी देशों को मिलती है। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि इस अध्यक्षता और मेज़बानी के साथ देश के अन्दर की सारी समस्याएँ खत्म हो जायेंगी। जी-20 की अध्यक्षता को विश्व स्तर पर भारत की बढ़ती शक्ति के प्रतीक के तौर पर प्रस्तुत किया जा रहा है। इस काम को भाजपा सरकार एवं उसकी चाटुकार गोदी मीडिया ज़बरदस्त तरीक़े से कर रहा है।

बहरहाल दिल्ली में सितम्बर माह में आयोजित होने वाली जी-20 शिखर सम्मेलन की तैयारियाँ अपने ज़ोरों पर हैं। दिल्ली का सौन्दर्यीकरण किया जा रहा है। यहाँ की सड़कों को चौड़ा किया जा रहा है ताकि दुनिया भर के प्रतिनिधियों को एक स्वच्छ ,सुन्दर और चमकती दिल्ली दिखाई जाये। केन्द्र और राज्य सरकार अपने स्तर पर दिल्ली को चमकाने में लगी है। लेकिन इस चमक के पीछे दिल्ली के मज़दूरों-मेहनतकशों के जीवन के रसातल का अँधेरा है।

चमचमाती दिल्ली के पीछे की कहानी

जी-20 के लिए देश की राजधानी को चमकाया जा रहा है। इसका सौन्दर्यीकरण किया जा रहा है लेकिन उसकी क़ीमत दिल्ली के ग़रीब मेहनतकश अवाम को चुकानी पड़ रही है। दिल्ली के ग़रीब मेहनतकश अवाम को उनके रहने की जगहों से उजाड़ा जा रहा है। पिछले 3 महीनों में 16,000 घर तोड़े गये है जिसमें क़रीब 2,60,000 लोगों को बेघर होना पड़ा है। जी-20 में आए हुए प्रतिनिधि, यानी अन्य देशों के लुटेरे और हुक्मरान जो इन देशों में हमारे मेहनतकश भाइयों-बहनों को लूटते हैं, राजघाट पर गाँधी के समाधि स्थल को देखने जा सकते हैं! इस कारण राजघाट के आसपास के इलाक़ों से मेहनतकशों के घरों को तोड़ दिया गया है। इसके साथ ही महरौली में भी ये प्रतिनिधि ऐतिहासिक भ्रमण के लिए जा सकते हैं इस कारण यहाँ पर दशकों से बसे घरों को तोड़ दिया गया। तुगलकाबाद में भी घरों को तोड़ा गया।

आपको बताते चलें कि दिल्ली के उपराज्यपाल ने कहा था कि झुग्गियों को नहीं तोड़ा जायेगा। यहाँ तक कि जी-20 के स्थलों पर पड़ने वाले झुग्गियों को भी नहीं तोड़ा जायेगा। इसके साथ ही नगर-निगम के क़ानून के तहत तथा हाईकोर्ट के फ़ैसले के अनुसार किसी भी झुग्गी को उसके पुनर्वास की व्यवस्था किये बिना नहीं तोड़ा जा सकता है। साथ ही तोड़ने से पहले उसका नोटिस जारी करना पड़ता है। लेकिन ये सारी बातें केवल काग़ज़ी ही साबित हुई हैं। आमतौर पर नोटिस बुलडोजर और पुलिस के साथ ही घर तोड़ने के ऐन मौके पर पहुँचता है जहाँ मेहनतकश अवाम को अपने ज़रूरत की चीज़ों को निकालने तक का भी मौक़ा नहीं मिल पाता। इस बार ग़रीब मेहनतकशों के घरों के साथ-साथ शेल्टर होम्स और सरायखानों को, जिसे इस सरकार ने ही बनाया था, भी तोड़ दिया गया है।

ग़रीब मेहनतकशों को उनके घरों से बेघर करने के बाद तमाम सरकारों की असलियत सामने आ जाती है। केन्द्र में बैठी भाजपा सरकार की बात करें तो इस सरकार ने 'प्रधानमन्त्री आवास योजना' के तहत 2022 तक सभी को पक्का मकान देने का वादा किया था लेकिन इसकी हक़ीकत यह है कि सबको पक्का मकान तो दूर की बात है जिनके पास झुग्गी है उन्हें भी बेघर किया जा रहा है। इसके साथ ही भाजपा का नारा था "जहाँ झुग्गी वहीं मकान।" इस नारे ने भी हक़ीकत में दम तोड़ दिया है। मकान देना तो दूर की बात है झुग्गियों को भी उजाड़ा जा रहा है।

दिल्ली की केजरीवाल सरकार ने तोड़- फोड़ की इस गतिविधि के बाद कहा कि डीडीए (DDA) जिसके द्वारा तोड़फोड़ की गतिविधि को अन्जाम दिया जा रहा है केन्द्र सरकार के अधीन है, इसमें दिल्ली सरकार कुछ नहीं कर सकती है। लेकिन इस घड़ियाली आँसुओं के पीछे की सच्चाई यह है कि आम आदमी पार्टी की सरकार भी गरीबों की उतनी ही दुश्मन है जितनी भाजपा सरकार। अभी दिल्ली सरकार ने ही जी-20 को ध्यान में रखकर अपने स्तर पर शहर के सौन्दर्यीकरण तथा फ्लाईओवर निर्माण के काम के लिए अपने बजट लगभग 1400 करोड़ रुपए खर्च करने की बात की है। इसके पीछे उनका तर्क है कि विश्व भर के प्रतिनिधियों के सामने दिल्ली को चमकता हुआ प्रस्तुत करने की ज़रूरत है। इसके साथ ही जब दिल्ली में ही ग़रीब मेहनतकशों के घरों को तोड़ा जाता है तब आम आदमी पार्टी का कोई भी नेता क्यों चूँ तक नहीं करता? यह बात भी उनकी असलियत को बयाँ करती है।

ग़रीब मेहनतकशों को उनके घरों से उजाड़ने की इन गतिविधियों को अलग करके नहीं देखा जा सकता क्योंकि हर साल पूरे देश में कहीं न कहीं अलग-अलग नामों पर मेहनतकशों को उनके घरों से बेघर किया ही जाता है। कभी 'प्रधानमन्त्री आवास योजना' के तहत तो कभी 'स्वच्छ भारत मिशन' के तहत। कभी 'झुग्गी मुक्त शहर' के नाम पर तो कभी 'अतिक्रमण हटाओ' के नाम पर। दिल्ली में इससे पहले हुए कामनवेल्थ खेलों के समय भी ग़रीब मेहनतकशों को उनके घरों से बेघर किया गया था। केवल इतना ही नहीं पूरे देश भर में किसी न किसी नाम पर हर राज्य की सरकार ग़रीब मेहनतकशों को आये-दिन उनके घरों से बेघर करती रहती है।

दिल्ली में हुई इस घटना और आमतौर पर पूरे देश भर में अलग-अलग कारणों से ग़रीब मेहनतकशों को उनके घरों से बेघर करने की घटनाएँ बार-बार हमें यह दिखाती है कि तमाम सरकारें चाहे जो भी वादा कर ले उसकी असलियत यही है कि किसी भी पार्टी की सरकार हो वे जनता के आवास के बुनियादी अधिकार के साथ ग़द्दारी ही करने का काम करती हैं। देश के प्रमुख शहर जिस मेहनतकश आबादी के दम पर चलते हैं उनके लिए इन सरकारों के पास कोई योजना नहीं है। सुई से लेकर जहाज़ तक बनाने और चलाने वाली इस मेहनतकश अवाम को उसी शहर के लिए गन्दा समझा जाता है जिस शहर को चमकाने का यह काम करते हैं। शहर के सौन्दर्यीकरण के नाम पर इन मेहनतकशों को बेघर करना इस बात का सबूत है कि तमाम सरकारें इस आबादी को शहर के लिए गन्दगी समझती है। ये सरकारें मुनाफ़ाखोर पूँजीपति वर्ग की ही नुमाइन्दगी करती हैं और मुनाफ़ाकेन्द्रित व्यवस्था की रक्षा का ही काम करती हैं। इस व्यवस्था से यह उम्मीद करना बेकार है कि वह आम मेहनतकश आबादी के बुनियादी अधिकारों को सुनिश्चित करके, उनकी बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करे।

आज ज़रूरत है मेहनतकशों को एक साथ मिलकर खड़े होने की और सबको आवास के अधिकार के लिए आन्दोलन करने की। किसी भी देश की सरकार की यह ज़िम्मेदारी है कि वह उस देश में रहने वाले हर नागरिक को रहने के लिए आवास की गारण्टी दें। यह हमारा हक़ है और इसे हासिल करने के लिए आज जाति-धर्म को छोड़कर अपने वर्ग के आधार पर एकजुट होने की ज़रूरत है।

संघ-भाजपा के फ़र्ज़ी देशप्रेम की कलई फिर खुली!

आरएसएस से जुड़ा डीआरडीओ का वैज्ञानिक गोपनीय सूचनाएँ बेचने के आरोप में गिरफ़्तार

● विवेक

इस माह की शुरुआत में महाराष्ट्र राज्य आतंक विरोधी दस्ते द्वारा डीआरडीओ में वैज्ञानिक पद पर कार्यरत पी.एम. कुरुलकर को पाकिस्तानी ख़ुफ़िया एजेंसी के साथ गोपनीय सूचनाएँ साझा करने के आरोप में गिरफ्तार किया गया। यह जानना ज़रूरी है कि उक्त वैज्ञानिक का सम्बन्ध नरेन्द्र मोदी और भाजपा के आका संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) से है। खुद कुरुलकर ने कहा है कि उसके परिवार की चार पीढ़ियाँ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से जुड़ी हुई हैं। वह स्वयं भी नियमित रूप से संघ की शाखा में जाता रहा है। पी.एम. कुरुलकर हाई प्रोफाइल वैज्ञानिक है। वह देश के मिसाइल निर्माण कार्यक्रम से भी जुड़ा हुआ है। एटीएस ने शुरुआती जाँच के बाद कहा कि कुरुलकर ने मिसाइलों से जुड़ी जानकारी एक सन्दिग्ध महिला के साथ साझा की है, जिसके तार पाकिस्तानी खुफिया एजेंसी से जुड़े हैं । एटीएस के अनुसार यह प्रकरण कुरुलकर को उक्त महिला द्वारा हनी ट्रैप (प्रेम या सेक्स के प्रस्ताव के ज़रिये धोखे से सूचना हासिल करना) में फँसाने से शुरू हुआ था।

परन्तु, इतने बड़े मसले को गोदी मीडिया द्वारा दबा दिया गया। राष्ट्रीय अख़बारों व समाचार चैनलों पर इसकी कहीं कोई चर्चा तक नहीं की गई। गोदी मीडिया से यह उम्मीद भी नहीं थी कि वह अपने असली मालिकों के ख़िलाफ़ किसी भी तरह की ख़बर को जनता तक पहुँचने दे। पर फिर भी यह सवाल तो है कि हमेशा देशभक्ति का ढोल पीटने वाले आरएसएस व भाजपा से जुड़े लोगों का ही नाम ऐसे प्रकरणों में क्यों आता है?

वैसे यह कोई पहला मामला नहीं है जब आरएसएस या भाजपा से जुड़े किसी व्यक्ति का नाम देश की रक्षा से सम्बन्धित सूचनाओं को दूसरे देश की ख़ुफ़िया एजेंसी को लीक करने में आया है। इसके पहले आरएसएस से जुड़े ध्रुव सक्सेना को भी एटीएस ने आईएसआई के लिए जासूसी करने के आरोप में गिरफ़्तार किया था। जब यह बात सामने आयी कि ध्रुव सक्सेना भाजपा के आईटी सेल का जिला कॉर्डिनेटर है, तो फिर भाजपा ने यह रोना रोया कि विदेशी ताकतें भाजपा में घुसपैठ कर रही है तथा ध्रुव सक्सेना से उसका कोई लेना देना नहीं है। पी. एम. कुरुलकर के मामले में भी आरएसएस व भाजपा ने चुप्पी साध रखी है।

देशभक्ति व राष्ट्रवाद का ढोल पीटने वाली भाजपा व आरएसएस का यही असली चाल, चेहरा और चरित्र है। देश के साथ गद्दारी का इनका इतिहास काफ़ी पुराना है। आज़ादी से लगभग 22 वर्ष पूर्व राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना हुई। तब से लेकर आज़ादी मिलने के 22 वर्षों के दौरान संघ ने अंग्रेजों के खिलाफ चूँ तक नहीं की। जब अंग्रेजों के ख़िलाफ़ देश की जनता लड़ रही थी तब संघी, हिन्दू आबादी का ध्रुवीकरण कर आज़ादी की लड़ाई को कमज़ोर करने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ रहे थे। आरएसएस के संस्थापक सह संघचालक केशव बलिराम हेडगेवार, दूसरे संघचालक एम.एस गोलवलकर और हिन्दुत्व के प्रचारक विनायक दामोदर सावरकर ने आज़ादी की लड़ाई से लगातार अपने को दूर रखा। इन भगवा फ़ासीवादियों के वैचारिक गुरु विनायक दामोदर सावरकर ने जेल से अंग्रेजों को कई माफ़ीनामे लिखे और यह विश्वास दिलाया कि वह उनका वफ़ादार रहेगा। और उसने किया भी ठीक ऐसा ही, जेल से निकलने के उपरान्त सावरकर ने अंग्रेजों के खिलाफ़ चल रहे किसी भी आंदोलन में हिस्सा नहीं लिया और अंग्रेज़ों से पेन्शन ली। इसके अलावा, सावरकर देश के स्वाधीनता आन्दोलन को कमज़ोर करने की कोशिश में शामिल रहा, लगातार अपनी लेखनी के जरिये देश की जनता की एकता को साम्प्रदायिक आधार पर तोड़ने का प्रयास करता रहा। यही नहीं भाजपा के बड़े नेता रहे व सात दशकों तक संघ में कार्यकर्ता रहे अटल बिहारी वाजपेयी ने सन् 1942 में भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान अंग्रेजी सरकार के समक्ष मुखबिरी की थी। उसके बयान के कारण आन्दोलन मे शामिल लोगों की गिरफ्तारी हुई थी।

आज हमें संघ-भाजपा के 'राष्ट्रवाद' और इसकी तथाकथित 'देशभक्ति' की असलियत को पहचानने की ज़रूरत है। इनके लिए देशभक्ति केवल जनता को भरमाने का जुमला है, इसलिए उनके झूठे छलावे में आए बगैर देशभक्ति के सच्चे मायने समझने होंगे। देशभक्ति का अर्थ है देश की मेहनतकश जनता से एकजुटता, उनके दुःख-तकलीफ़ से वास्ता और उनके संघर्ष के साथ एकरूप होना। देशभक्ति की बात करते हुए अगर इस देश की आज़ादी की लड़ाई पर नज़र डाली जाये तो आज भी जिन सच्चे देशभक्तों के के नाम हमारे मस्तिष्क में आते हैं वे हैं – शहीद भगतसिंह, राजगुरू, सुखदेव, चन्द्रशेखर आज़ाद, अशफ़ाक-उल्ला, रामप्रसाद 'बिस्मिल' व इनके अन्य साथी। आज हमें भी इन्हीं की विरासत को लेकर आगे बढ़ना है व इन भगवा फ़ासीवादियों के नकली देशभक्ति के बरक्स सच्ची देशभक्ति के उदाहरणों से आम मेहनतकश आबादी को परिचित कराना है।

धर्म के बाज़ार में एक और नया पाखण्डी – धीरेन्द्र शास्त्री

• आकाश

हम जानते हैं कि फ़ासीवाद एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन है और इसने हमारे देश को अपने ख़ूनी पंजे में जकड़ रखा है| बेरोज़गारी, ग़रीबी, भुखमरी और भविष्य की अनिश्चितता से परेशान जनता के सामने नक़ली दुश्मन पेश करके उसे अन्धराष्ट्रवाद और साम्प्रदायिकता के ख़ूनी दलदल में धकेलने का काम किया जा रहा है| संघ परिवार और उसके तमाम अनुषंगी संगठन साम्प्रदायिक फ़ासीवाद का ज़हर बड़े पैमाने पर फ़ैलाने का काम कर रहे हैं। तमाम धार्मिक अन्धविश्वास और प्रतिक्रियावादी मूल्य मान्यताएँ पहले ही जनता की चेतना को अपंग बना रही हैं। इसके साथ ही भारत जैसे 'बाबा प्रधान देश' में हर दूसरे ही क्षण किस्म-किस्म के बाबा पैदा होते हैं जो समाज के अन्दर प्रतिक्रिया की ज़मीन तैयार करते हैं और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में फ़ासीवादी और जनविरोधी ताक़तों की मदद करते हैं| बुर्जुआ राज्यसत्ता अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए इनका बख़ूबी इस्तेमाल भी करती है| आज के फ़ासीवादी संघी गिरोह इसका इस्तेमाल साम्प्रदायिकता के उत्प्रेरक के तौर पर कर रहे हैं।

वैसे तो हर कुछ समय बाद यहाँ कोई बड़े ब्राण्ड के बाबा जन्म लेते हैं जो किस्म-किस्म के चमत्कारों का दावा करके अपने जीवन के दुख-तकलीफ़ से त्रस्त और थकी हुई जनता को मुक्ति दिलाने के नाम पर अपना गोरखधन्धा चलाते हैं। हर धर्म में धर्म के ठेकेदार यह काम करते हैं। समाज में कुरीति, अतार्किकता, अन्धविश्वास और वेश्यावृति तक फैलाकर आज बाबागीरी अपनी तमाम गलाज़त के साथ पूँजीवादी व्यवस्था और फ़ासीवाद की सेवा में लगी है | बाबाओं द्वारा जहाँ एक तरफ़ तमाम क़िस्म के पाखण्ड रचे जाते हैं वहीं दूसरी तरफ़ जनता की गाढ़ी कमाई के एक हिस्से और संसाधनों पर कब्ज़ा करके महँगी कारों, हेलीकॉप्टरों, महलों और हीरे-जवाहरात के साथ अश्लील किस्म की ऐयाशी की जाती है। इसके अलावा, सारे धार्मिक बाबाओं द्वारा बुर्जुआ सत्ता और विचारधारा के वर्चस्व को स्थापित करने का काम किया जाता है । तमाम बाबाओं का नेताओं, राजनितिक पार्टियों, बाहुबलियों, ठेकेदारों, अपराधियों और पूँजीपतियों के साथ गठजोड़ किसी से छिपा नहीं है |

आजकल ऐसे ही एक नये बाबा की धर्म के बाज़ार में एण्ट्री हुई है| समूचा गोदी मीडिया और सोशल मीडिया पर आजकल उसकी काफ़ी चर्चा है और तमाम पूँजीपतियों द्वारा अरबों रुपये बहाकर इस नये ढोंगी को जनता के बीच स्थापित करने के प्रयास जारी हैं। देश भर में उसके "दिव्य दरबारों" का आयोजन किया जा रहा है। इस बाबा का नाम है धीरेन्द्र शास्त्री। छब्बीस वर्षीय धीरेन्द्र शास्त्री बागेश्वर बाबा के नाम से भी जाना जाता है। मध्य प्रदेश के छतरपुर जिले के गढ़ा गाँव में इसने बागेश्वर धाम के नाम से अपनी दुकान खोल रखी है। आज यह जगह उसके बिजनेस का बहुत बड़ा हब बन चुका है। इसने इस गाँव के कब्रिस्तान, सार्वजानिक तालाब और कई सरकारी ज़मीनों पर कब्ज़ा कर रखा है। इसके साथ ही कई लोगों का आरोप है कि उन्हें धमकाकर जबरन उनकी ज़मीनें भी छिनी गयी हैं। बागेश्वर धाम के सेवाकार हड़पी गयी ज़मीनों पर किराए लगाकर अवैध वसूली भी करते हैं। मीडिया ख़बरों के अनुसार धीरेन्द्र शास्त्री 2014 में गाँव में झाड़ फूँक करता था। उस समय गाँव वालों ने उसे गाँव से बाहर निकल दिया था। इसके बाद वह वहाँ के सरकारी सामुदायिक भवन में रहने लगा और आज भी उस सामुदायिक भवन पर वह अवैध कब्ज़ा जमाकर बैठा है |

धर्म के बाज़ार में जब भी कोई नया बाबा आता है, वह अपनी एक विशिष्टता लेकर आता है। वह पाखण्ड के अपने पैंतरे आज़माता है, हालाँकि पाखण्ड के सारे रूप एकदम हवा-हवाई, और पुराने होते हैं, जिनका कई बार पर्दाफ़ाश हो चुका होता है। किन्तु आम जनमानस के बीच वैज्ञानिक चेतना की कमी और जीवन की आर्थिक-सामाजिक असुरक्षा और कठिनाइयों से पैदा श्रान्ति-क्लान्ति के कारण ये अपनी दुकान चलाते रहते हैं। धीरेन्द्र खुद को अन्तर्यामी कहता है, वह लोगों के मन की बात जान लेने का, और अपने चमत्कार से गम्भीर से गम्भीर रोगों का इलाज़ करने का दावा करता है। **बाबा के बड़बोले दावों की पोल तब खुली जब पिछले जनवरी में नागपुर में बाबा अपने प्रवचन के साथ दिव्य दरबार लगाने वाला था**| दिव्य दरबार वह दरबार है जहाँ बाबा कुछ ट्रिक्स और अपने सेवादारों की मदद से चमत्कार करने का दावा करके जनता को मूर्ख बनाता है। इसमें वह कैंसर जैसी बीमारियों का अपने जादू-टोना से इलाज करने का दावा और किसी के भी मन की बात जान लेने का दावा करता है। महाराष्ट्र में सालों से अन्धविश्वास और जादू-टोना के ख़िलाफ़ संघर्ष कर रही संस्था **अन्धश्रद्धा निर्मूलन समिति** के अध्यक्ष श्याम मानव को जब यह बात पता चली कि कोई बाबा दिव्य दरबार का आयोजन करने वाला है जो किसी के मन की बात, बिना बताये किसी का नाम और उसके घरवालों का नाम बता देता है **तो उन्होंने उसे चुनौती दी कि अगर सच में ऐसा है तो नागपुर में बाबा एक कमरे में रहें और दूसरे कमरे में श्याम मानव अपने 10 आदमी और खास परिस्थिति में रहेंगे। अगर बाबा 90 प्रतिशत भी सही अनुमान लगा पाए तो वे खुद उसके चरणों में जायेंगे और तीस लाख रुपये भी देंगे। जैसे ही बाबा को अपना नकाब उतरते हुए दिखा, अन्तर्यामी बाबा लँगोटी लेकर तय समय के दो दिन पहले ही भाग खड़ा हुआ। इसके बाद बाबा के भक्तों ने श्याम मानव को जान से मारने की कई धमकियाँ दी और गोदी मीडिया उसके बचाव में लग गयी। इसकी एक और बानगी तब देखने को मिली जब पिछले महीने बाबा बिहार गए, जहाँ भीषण गर्मी में बाबा के दरबार में गए 100 से ज़्यादा लोग बेहोश हो गए और अन्तर्यामी बाबा कुछ नहीं कर पाये।**

भारतीय मीडिया हमेशा से ही कई कूपमण्डूक विचारों और उसे फैलाने वाले बाबाओं के प्रचार का अड्डा रही है। किन्तु धीरेन्द्र शास्त्री पर उसकी अलग ही कृपा बरस रही है। गोदी मीडिया भोपू लेकर उसकी ब्राण्डिंग करने में लगी है। **यह अनायास नहीं है, इसका कारण यह है कि बाबा भाजपा और संघ के प्रोपेगेण्डा को अपने हर भाषण में पेश कर रहा है। वह देशभर के कई हिस्सों में घूमकर अपने दरबार में खुलेआम भड़काऊ व साम्प्रदायिक भाषण दे रहा है और "हिन्दू राष्ट्र" यानी फ़ासीवादियों के मॉडल देश के सपने को बेच रहा है जिसमें आम मेहनतकशों और मज़दूरों का काम होगा मुँह पर ताला लगाकर धन्नासेठों के मुनाफ़े के लिए खटना, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान।** यही कारण है की तमाम भाजपाई और हाफपैन्टिये संघी गिरोह उसके दरबार में अपनी हाज़िरी दर्ज़ करवा रहे हैं। साफ़ है अगले साल लोकसभा चुनाव होने हैं और हालिया समय में साम्प्रदायिक फ़ासीवादी गिरोह के चाल, चेहरा और चरित्र जनता के सामने बेनकाब हो रहे हैं। इसका प्रमाण हालिया विधानसभा चुनाव में भी देखने को मिला है। कर्नाटक विधानसभा चुनाव में मोदी समेत तमाम भाजपा नेताओं द्वारा बजरंगबली का जाप और हिन्दुत्व का उन्माद काम न आया। आज़ाद भारत के इतिहास में यह सबसे भयानक दौर है जहाँ 32 करोड़ लोग बेरोज़गार हैं। महँगाई 2014 के बाद मोदी सरकार के काल में लगातार बढ़ी है जिसकी वजह अप्रत्यक्ष करों का भारी बोझ जनता पर थोपा जाना है ताकि मोदी-मित्रों यानी अडानी-अम्बानी जैसे धन्नासेठों को कर्ज़ से मुक्ति, जनता का धन व प्राकृतिक संसाधन लूटने तथा सारे सरकारी उपक्रम हड़प लेने की पूरी आज़ादी दी जा सके। जी.एस.टी के नाम पर जनता पर कर का बोझ लगातार बढ़ाया गया है। रसोई गैस के 1200 रुपये, पेट्रोल 100 रुपये के करीब, डीजल के 96 रूपये के करीब और जीवन के लिए आवश्यक तमाम आवश्यक वस्तुओं के बढ़ते दाम और सरकार की पूँजीपरस्त नीतियों से जनता त्रस्त हो चुकी है। साथ ही अलग-अलग तरीक़ों से जनता की जेबों पर डाका डालने वाली नीतियाँ आज नंगी हो चुकी है। ऐसे में, भाजपा और संघ परिवार उस थोड़ी भी सम्भावना को कुचलने की कोशिश कर रही है जो 2024 के लोकसभा चुनाव में उसे पूर्ण बहुमत में आने से रोकती हो। इसीलिए फिर से साम्प्रदायिकता, दंगे आदि फैलाने की साज़िश को बड़े पैमाने पर खेलने की कोशिशें शुरू हो चुकी हैं। **इसमें धीरेन्द्र शास्त्री एक उत्प्रेरक की भूमिका निभा रहा है| ऐसा करने वाला यह कोई पहला बाबा नहीं है। पहले भी कई बाबा भाजपा के लिए वोट बटोरने का काम कर चुके हैं। उनमें से ज़्यादातर बाबा बलात्कारी, माफिया और धन्धेबाज़ रहे हैं। आसाराम, रामरहीम, चिन्मयानन्द, नारायण साईं, जयेन्द्र सरस्वती, चन्द्रास्वामी, प्रेमानन्द, रामपाल आदि ये ऐसे नाम हैं जिनकी काली करतूतें जगजाहिर हो चुकी हैं। इस प्रकार के कई पाखण्डी हैं जो सत्ता के साथ साँठगाँठ करके अपनी दुकानें चला रहे हैं। धीरेन्द्र शास्त्री जैसा ढोंगी भी भाजपा के नये साम्प्रदायिक खेल में एक प्यादा बनने का काम कर रहा है।**

पूँजीवादी समाज में धर्म एक धन्धा और व्यापार ही होता है। जब यह बुर्जुआ राजनीति के साथ मिलता है तो प्रतिक्रियावाद के सबसे घिनौने रूपों को जन्म देता है। आज पूँजीवादी राज्यसत्ता अपने वर्चस्व को बनाए रखने के लिए धार्मिक कुरीति, अन्धविश्वास और "चमत्कारी बाबाओं" को बढ़ावा दे रही है ताकि पूँजीवादी व्यवस्था के तमाम "तोहफ़ों" जैसे सामाजिक-आर्थिक असुरक्षा, बेरोज़गारी, महँगाई, भुखमरी, ग़रीबी को 'किस्मत का लेखा', 'रेखाओं का खेल', 'पूर्वजन्म के पाप' आदि के रूप में प्रस्तुत किया जा सके और जनता को 'जाहि बिधी रखे राम ताहि बिधी रहना' पर भरोसा रखकर हर अन्याय और शोषण-उत्पीड़न को स्वीकार करने और 'सन्तोषम् परम सुखम' की नसीहत मानने के लिए राज़ी किया जा सके। वैज्ञानिक चेतना के अभाव और अपने भौतिक जीवन की कठिनाइयों, असुरक्षा और अनिश्चितता से त्रस्त लोग अपनी असुरक्षा और बर्बादी के असली कारणों को नहीं समझ पाते और किसी चमत्कार की उम्मीद में धर्म का सहारा लेते हैं और धीरेन्द्र शास्त्री धर्म के तमाम ढोंगी-पाखण्डी ठेकेदार इसका फ़ायदा उठाते हैं । जब लोगों की आवश्यक भौतिक ज़रूरतें पूरी नहीं होती, पक्का रोज़गार नहीं मिलता, बीमारी का इलाज़ नहीं हो पाता और वे ज़िन्दगी की दुःख-तक़लीफ़ों से परेशान होते हैं और उन्हें मौजूदा अन्यायपूर्ण व्यवस्था में कोई विकल्प नज़र नहीं आता तो वे धर्म की शरण में जाते हैं। यहाँ धर्मगुरु कुछ जादू के ट्रिक्स और हथकण्डों का इस्तेमाल कर चमत्कार में भरोसा पैदा करते हैं और उन्हें मूर्ख बनाते हैं। इससे वे जनता के बीच एक मिथ्या चेतना का निर्माण करते हैं। इसके बाद बाबा चाहे कितनी भी घिनौनी हरक़त करें, भक्त उनका साथ नहीं छोड़ते। वो जो भी बोलते हैं उनके लिए वो सत्य होता है । आज धीरेन्द्र शास्त्री जैसा पाखण्डी लोगों को यह बताता है कि उसके धर्म को मुसलमानों से ख़तरा है, मुसलमान ही उनकी सारी समस्याओं की जड़ हैं और इससे बचने के लिए "हिन्दू राष्ट्र" बनाना है! तमाम मीडिया चैनल, भाजपा आई.टी. सेल और कई फ़ासिस्ट संघी जनसंगठनों द्वारा फैलायी जा रही नफ़रत में यह आग में घी का काम करता है। इस प्रकार यह दिन की उजाले की तरह साफ़ है कि राजनीति और धर्म का मिश्रण एक भयानक दानव को पैदा करता है जो आज हमारे समाज में खतरनाक विष फैला रहा है।

आज तमाम प्रगतिशील लोगों और संगठनों को यह माँग करनी चाहिए कि धर्म का राजनीति से पूर्ण अलगाव हो और धर्म सभी का निजी मसला हो। यही एक धर्म-निरपेक्ष राज्य की पहचान होती है। इसके साथ ही भारत में सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन के कार्यभार को पूरा करना होगा। कूपमण्डूकता, अन्धविश्वास आदि के खिलाफ़ वैज्ञानिक तर्कपद्धति का लगातार प्रचार प्रसार करना होगा।

भगतसिंह जनअधिकार यात्रा के पहले चरण (12 मार्च से 15 अप्रैल, 2022) के समापन के बाद पहला राष्ट्रीय सम्मेलन दिल्ली में सफलतापूर्वक सम्पन्न

बीते 10 मई को दिल्ली के अम्बेडकर भवन में भगतसिंह जनअधिकार यात्रा के पहले राष्ट्रीय सम्मेलन का सफल आयोजन सम्पन्न हुआ। ज्ञात हो कि 12 मार्च से लेकर 15 अप्रैल तक देश के 11 राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों में भगतसिंह जनअधिकार यात्रा के प्रथम चरण का आयोजन किया गया था। यात्रा का प्रमुख मक़सद शिक्षा, चिकित्सा, रोज़गार, आवास जैसे मुद्दों को उठाना, महँगाई, बेरोज़गारी, लूट, साम्प्रदायिकता के खिलाफ़ जनता की जुझारू एकजुटता कायम करना है। दिल्ली एनसीआर, उत्तरप्रदेश, पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र, बिहार, उत्तराखण्ड, चण्डीगढ़, आन्ध्रप्रदेश, तेलंगाना समेत देश के विभिन्न हिस्सों में भगतसिंह जनअधिकार यात्रा की टोलियाँ पहुँची। इस दौरान हज़ारों नुक्कड़ सभाएँ करते हुए लाखों की संख्या में पर्चों-पुस्तिकाओं का वितरण किया गया। पहले राष्ट्रीय सम्मेलन में विभिन्न राज्यों से यात्रा के सैकड़ों यात्रियों, कार्यकर्ताओं और प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। सम्मेलन में 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम की शुरुआत के एतिहासिक दिन 10 मई को जनता की जुझारू जनएकजुटता कायम करके असल मुद्दों पर जनसंघर्ष खड़े करने का संकल्प लिया गया।

पहले राष्ट्रीय सम्मेलन के दौरान जनअधिकार यात्रा की ओर से विशाल ने बताया कि 10 मई 1857 के विद्रोह की ऐतिहासिक विरासत हमारे लिए बेहद महत्वपूर्ण है। इसी दिन जनता ने हिन्दू-मुसलमान की धार्मिक दीवारों को गिराकर ब्रिटिश गुलामी व कम्पनी सरकार के खिलाफ़ आज़ादी के संघर्ष का बिगुल फूँका था। 1857 के पहले स्वतन्त्रता संग्राम की शुरुआत 10 मई को हुई थी। देश की आज़ादी के बाद एक नया कम्पनी राज कायम हुआ जिसे भाजपा के राज में नई ऊँचाइयों तक पहुँचाया गया। अदानी-अम्बानी जैसे पूँजीपतियों के नये कम्पनी राज को भी हम जाति-मजहब की दीवारों को गिराकर जनता की जुझारू जनएकजुटता कायम करके ही नेस्तनाबूद कर सकते हैं। जनता की जुझारू जनएकजुटता कायम करके असल मुद्दों पर जनसंघर्ष खड़े करने के संकल्प के लिए इस दिन से बेहतर कोई दिन हो नहीं सकता है।

सम्मेलन में मंच संचालन विशाल ने किया। अध्यक्ष मण्डल की ज़िम्मेदारी प्रसेन, जी. श्रीनिवास, अश्विनी, दीपक शर्मा, अविनाश ने निभायी। कार्यक्रम की शुरुआत अनुष्टुप द्वारा पेश गीत रंग दे बसन्ती चोला के साथ हुई। इसके बाद संघर्षशील पहलवान खिलाड़ियों के प्रतिनिधिमण्डल की ओर से अर्जुन अवार्डी पहलवान सत्यव्रत कादयान और योग चैम्पियन मनदीप ने भगतसिंह जनअधिकार यात्रा के मंच से बात रखी। खिलाड़ियों की सभी माँगों का पूरे सदन ने पुरज़ोर समर्थन किया। आगे विभिन्न संगठनों के नेताओं ने सभा को सम्बोधित किया और यात्रा के दौरान के अपने अनुभव साझा किये। भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI) की ओर से शिवानी, प्रसेन, वारुणी ने बात रखी। बिगुल मज़दूर दस्ता की ओर से अभिनव ने सभा को संबोधित किया। नौजवान भारत सभा की ओर से अरविन्द, दिशा छात्र संगठन की ओर से अमित, अदारा दखल की ओर से अवतार, स्त्री मुक्ति लीग की ओर से पूजा ने यात्रा के अपने अनुभव साझा किये। इसके अलावा महाराष्ट्र से निखिल एकडे, तेलंगाना से सहजा और श्रीजा, आन्ध्र प्रदेश से बुरुगा श्रीनिवास और अरुणा ने भी सभा में अपनी बात रखी।

वक्ताओं ने कहा कि भगतसिंह जनअधिकार यात्रा द्वारा उठाये जा रहे शिक्षा-चिकित्सा-रोज़गार-आवास जैसे मुद्दे जनता के जीवन से जुड़े असली मुद्दे हैं। महँगाई, बेरोज़गारी ने हमारा जीना हराम कर दिया है। स्वास्थ्य सेवाओं के बुरे हालात आये दिन लोगों के जीवन को लील रहे हैं। आज जानलेवा महँगाई इसलिए नहीं है कि चीज़ों और सामानों की कोई किल्लत हो गयी है। बल्कि महँगाई इसलिए है क्योंकि मोदी सरकार ने जनता पर अप्रत्यक्ष करों का पहाड़ लाद दिया है जोकि दिनोंदिन बढ़ता ही जा रहा है। बेरोज़गारी इसलिए नहीं है कि आबादी ज़्यादा हो गयी है और विकास की सम्भावनाएं समाप्त हो गयी हैं। बल्कि बेरोज़गारी का कारण सरकारों की पूँजी परस्त नीतियाँ हैं। आज मोदी राज में तमाम श्रम कानूनों को शर्म कानूनों में तब्दील कर दिया गया है। जो सिर्फ़ कागज़ों में दर्ज़ हैं और इनका मेहनतकश आबादी के लिए कोई मतलब नहीं है। मोदी सरकार की सेवा में लगा गोदी मीडिया दिलोजान लगाकर हमारे जीवन के असली मुद्दों पर पर्दा डालने का काम कर रहा है। हिन्दू-मुस्लिम, मन्दिर-मस्जिद, पहनावा, खान-पान आदि मसलों को साम्प्रदायिकता की चासनी में डुबोकर जनता को बरगलाया जा रहा है। आज सच्ची धर्मनिरपेक्षता के लिए धर्म के राजनीति व सामाजिक जीवन से पूर्ण विलगाव की माँग उठानी चाहिए। इसके बिना धार्मिक कट्टरता और फ़िरकापरस्ती का दानव सबको निगल जायेगा जैसा कि कई देशों में हुआ भी है। हमें हर प्रकार की साम्प्रदायिकता को नकार देना चाहिए। ऐसे में हमारे सामने यह अतिरिक्त कार्यभार बन जाता है कि अपना जनपक्षधर मीडिया भी खड़ा करें ताकि गोदी मीडिया जनता को मूर्ख न बना सके। सम्मेलन में गोदी मीडिया से जुड़े सभी टीवी चैनलों और अखबारों के बहिष्कार की शपथ ली गयी।

आगे वक्ताओं ने कहा कि बेशक आज जनता को अपनी मुक्ति का कोई उपाय नज़र नहीं आ रहा है, लेकिन यह विकल्पहीनता ही हमारा भाग्य नहीं है। हमारा भरोसा है देश के बहादुर नौजवान, मेहनतकश मज़दूर-किसान आज के हालात को बदलने के लिए अवश्य आगे आयेंगे। भगतसिंह ने कितना सटीक कहा था कि लोगों को परस्पर लड़ने से रोकने के लिए वर्ग चेतना की ज़रूरत होती है। यह बात आज भी उतनी ही सच है। मेहनतकश जनता चाहे किसी भी जाति-धर्म-भाषा-क्षेत्र की हो उसकी समस्याएँ एक हैं, उसे लूटने वाली ताक़तें भी एक हैं। अपनी एकजुटता बनाकर संघर्ष करेंगे तो अपने हक़ हासिल कर सकते हैं। यदि हमें शिक्षा, रोज़गार, चिकित्सा, आवास, सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा, जनवादी अधिकार, सच्चे सेक्युलरिज़्म और जनपक्षधर संस्कृति व मूल्य देने में मौजूदा व्यवस्था नाकाम है तो हमें इसे हटाकर एक नयी जनपक्षधर व्यवस्था का निर्माण करना होगा जिसमें उत्पादन, राजकाज और समाज के पूरे ढाँचे पर उत्पादक मेहनतकश जनता के समूहों का नियन्त्रण हो। लेकिन इस दूरगामी

(पेज 6 पर जारी)

भगतसिंह जनअधिकार यात्रा का पहला राष्ट्रीय सम्मेलन

(पेज 5 से आगे)

लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने की शुरुआत अपने बुनियादी अधिकारों यानी शिक्षा, रोज़गार, चिकित्सा, आवास पर सरकार को घेरने और उन्हें हासिल करने के संघर्ष से करनी होगी। इसीलिए अपने महान बलिदानी योद्धा पुरखों की क्रान्तिकारी विरासत से प्रेरित होकर 'भगतसिंह जनअधिकार यात्रा' की शुरुआत हुई है। इस यात्रा का मक़सद समाज में नयी क्रान्तिकारी जागृति लाना और जनता को उसके असल मुद्दों के प्रति जागरूक और एकजुट करना है।

लोगों ने जोशोखरोश के साथ भगतसिंह जनअधिकार यात्रा के पहले राष्ट्रीय सम्मेलन में शिरकत की। इसे नयी ऊर्जा और जोश के साथ अगले चरण में ले जाने और इसे जनआन्दोलन में तब्दील करने का संकल्प लिया! सम्मेलन का अन्त गगनभेदी नारों के साथ झंडेवालान के पूरे इलाक़े में रैली निकाल कर किया गया। यात्रा के अगले चरण के लिए नये संकल्पों के साथ भगतसिंह जनअधिकार यात्रा के पहले चरण का समापन हुआ।

भगतसिंह जन अधिकार यात्रा की प्रमुख माँगें :

● शिक्षा-रोज़गार-स्वास्थ्य और आवास मौलिक अधिकार घोषित हों। निजीकरण पर रोक लगे। भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून पारित करो, रोज़गार न दे पाने की सूरत में 10,000 रुपये प्रतिमाह बेरोज़गारी भत्ता दिया जाये। केन्द्र व राज्य सरकारों के सभी ख़ाली पद शीघ्र भरो। 'अग्निवीर' योजना को तत्काल रद्द कर सेना में पक्की भरती की व्यवस्था बहाल की जाये।

● सभी श्रम क़ानूनों को सख़्ती से लागू करो, प्रस्तावित चार 'लेबर कोड्स' रद्द करो। ग्रामीण मज़दूरों को भी श्रम क़ानूनों के अन्तर्गत लाया जाये। 'पुरानी पेंशन स्कीम' बहाल करो। ठेकेदारी प्रथा ख़त्म कर नियमित प्रकृति के कामों पर पक्के रोज़गार का प्रबन्ध करो।

● महँगाई पर रोक लगाने के लिए सभी अप्रत्यक्ष करों को समाप्त किया जाये और बढ़ती सम्पत्ति के आधार पर प्रगतिशील प्रत्यक्ष करों की व्यवस्था को मज़बूती के साथ लागू किया जाये।

● मनरेगा योजना को सख़्ती से लागू किया जाये, इसके तहत पूरे साल का काम देने का प्रावधान किया जाये और इसके काम पर कम-से-कम न्यूनतम वेतन जितनी राशि प्रदान की जाये।

● ग़रीब और मँझोले किसानों के लिए बीज, खाद, बिजली, आदि पर सब्सिडी की समुचित व्यवस्था हेतु अमीर वर्गों पर विशेष कर लगाये जायें, सिंचाई की सरकारी व्यवस्था और संस्थागत ऋण का भी समुचित प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

● "सर्वधर्म समभाव" की नकली धर्मनिरपेक्षता की जगह सच्चे धर्मनिरपेक्ष राज्य को सुनिश्चित करने के लिए क़ानून लाया जाये। किसी भी नेता या पार्टी द्वारा धर्म, समुदाय या आस्था का सार्वजनिक जीवन में किसी भी रूप में उल्लेख व इस्तेमाल करना दण्डनीय अपराध घोषित किया जाये।

● छुआछूत ही नहीं बल्कि हर प्रकार से जातिगत भेदभाव को संवैधानिक संशोधन करके दण्डनीय अपराध घोषित किया जाये।

● चुनावी दलों व सरकार द्वारा किये जाने वाले भ्रष्टाचार पर रोक लगे और इनके पब्लिक ऑडिट व जाँच की व्यवस्था की जाये।

● स्त्रियों के साथ सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक भेदभाव के हर रूप को समाप्त करो, इसके लिए सख़्त क़ानून लाये जायें।

● धार्मिक व जातिगत वैमनस्य भड़काने वाले तथा साम्प्रदायिक हिंसा व मॉब लिंचिंग में सक्रिय हर प्रकार के संगठनों और दलों पर तत्काल प्रतिबन्ध लगाकर इन्हें आतंकवादी घोषित किया जाये और इनके नेताओं व गुर्गों पर तत्काल कठोर कार्रवाई की जाये।

– बिगुल संवाददाता

पुरोला की घटना और भाजपा के "लव जिहाद" की सच्चाई!

(पेज 20 से आगे)

लगे हैं। एक व्यापक हिन्दू आबादी को "लव जिहाद" एक वास्तविकता लगने लगी है। भले ही इसका सच्चाई से दूर-दूर तक का रिश्ता न हो! पुरोला में जिस नाबालिग लड़की के साथ यह घटना घटी, उसके परिवार का ही कहना है कि यह मामला "लव जिहाद" का नहीं है। वह खुद भी इसे साम्प्रदायिक रंग देने के ख़िलाफ़ हैं। लड़की के मामा ने मीडिया बताया कि इस घटना के बाद से ही अनेक हिंदुत्ववादी संगठन के नेताओं के उनके पास फ़ोन आते रहे और वे उनके ऊपर इसे "लव जिहाद" का रूप देने के लिए दबाव डालते रहे! जब उन्होंने इन्कार कर दिया तो नेताओं ने ख़ुद ही इसे "लव जिहाद" के रूप के प्रचारित कर दिया।

जहाँ तक "लव जिहाद" जैसे शब्द और अवधारणा की बात है तो ये हिन्दुत्ववादी दक्षिणपंथी संगठनों की तरफ से मुस्लिमों के ख़िलाफ़ फैलाया गया एक मिथ्या प्रचार है। इसकी पूरी अवधारणा ही साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने वाली, घोर स्त्री-विरोधी और हिन्दुत्व की जाति व्यवस्था की पोषक अवधारणा है। इसके अनुसार मुस्लिम युवक अपना नाम और पहचान बदलकर हिन्दू लड़की को बरगलाकर, बहला-फुसलाकर अपने जाल में फँसाता है और उसके बाद जबरन हिन्दू लड़की का धर्म परिवर्तन करवाता है। यानी इस अवधारणा के अनुसार स्त्री का कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व और विचार ही नहीं होता! स्त्रियों को कोई भी बहला-फुसलाकर अपने जाल में फँसा सकता है! "लव जिहाद" के अनुसार मुस्लिम युवक जानबूझकर अपना "नाम" बदलते हैं ताकि "हिन्दू लड़कियों को फँसा सकें"। यानी प्यार "नाम" पर टिका है। जैसे दो व्यक्तियों का कोई व्यक्तित्व ही न हो! उनकी अपनी पसन्दगी-नापसन्दगी ही न हो! "नाम" अगर मुस्लिम होगा तो प्यार नहीं होगा! हिन्दू होगा तो हो जायेगा!

इस पूरी अवधारणा का इस्तेमाल हिन्दुत्ववादी संगठन लगातार करते आ रहे हैं। इसे इन्होंने अपने लगातार झूठे प्रचार से व्यापक हिन्दू आबादी में स्थापित भी कर दिया है। हालाँकि यह शब्द अपने आप में ग़ैर-संवैधानिक और अमान्य है। जहाँ तक किसी स्त्री-पुरुष के प्रेम का मामला है तो भारतीय संविधान किसी भी जाति-धर्म के स्त्री-पुरुष को आपस में प्रेम करने और उसे अपना जीवनसाथी चुनने की पूरी आजादी देता है। अलग-अलग धर्मों-जातियों-संस्कृतियों के लोगों के बीच प्रेम-सम्बन्ध तो किसी भी समाज को ज़्यादा स्वस्थ और सुन्दर बनाते हैं। हमारे देश में भी तमाम पूर्वाग्रहों के बावजूद लाखों लोग जाति-धर्म के बन्धनों को तोड़कर प्यार और शादी करते रहे हैं और थोड़े-बहुत विरोध के बाद उन्हें स्वीकार कर लिया जाता रहा है। लेकिन पिछले एक दशक के दौरान संघ और भाजपा ने इस ख़ूबसूरत बात को भी ज़हर और नफ़रत फैलाने का ज़रिया बना डाला है। उत्तराखण्ड राज्य का मुख्यमंत्री तक "लव जिहाद" जैसे शब्दों का खुलकर अपने भाषणों और वक्तव्यों में इस्तेमाल करता है।

सवाल यह उठता है कि इस तरह के मुद्दे से भाजपा और संघ को क्या मिलने वाला है? दरअसल, ये मुद्दे व्यापक हिन्दू आबादी के बीच संघ द्वारा फैलाये गये उस "डर" को स्थापित करने का काम करते हैं जिसके मुताबिक़ अगर भाजपा या संघ न हों तो "हिन्दुओं का जीना तक मुश्किल" हो जायेगा! इन मुद्दों को उछालकर और साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण करके भाजपा अपना वोट बैंक बढ़ाने और उसे सुदृढ़ करने में कामयाब होती है। दूसरे, आज जब पूरे देश में ही शिक्षा, स्वास्थ्य, रोज़गार, महँगाई जैसे सबसे ज़रूरी मसलों पर भाजपा सरकार नाकाम हो चुकी है, तो ये मुद्दे जनता की एकता को तोड़ने और लोगों का ध्यान भटकाने के लिए सबसे कारगर हथियार भी हैं।

कर्नाटक चुनाव के नतीजे और मज़दूर-मेहनतकश वर्ग के लिए इसके मायने

● लता

कर्नाटक चुनावों में भाजपा की शर्मनाक हार हुई है। कर्नाटक की जनता और देश की जनता के लिए यह खुशी की बात है क्योंकि नरेंद्र मोदी की महामानव की छवि और भाजपा के अपराजेय होने का भ्रम टूट रहा है। लेकिन भाजपा की हार के हर्षातिरेक में हम आसन्न ख़तरों से मुँह मोड़ कर संघ की फ़ासीवादी राजनीति को लेकर निश्चिन्त नहीं हो सकते। पूँजी का संकट ज्यों-का-त्यों बना हुआ है इसलिए संघी फ़ासीवाद का ख़तरा किसी मायने में टला नहीं है। निश्चित ही इस चुनावों में भाजपा के छल-छद्म और सम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की राजनीति थोड़ी फीकी पड़ी है। एक हद तक कर्नाटक की जनता इस बार इनके जुमलों की हक़ीक़त से परे देख सकी।

भाजपा की चुनावी राजनीति को देखते हुए यह साफ़ जाहिर होता है कि इस पार्टी के लिए सबसे महत्वपूर्ण कार्यभार चुनावों में जीत हासिल करना होता है। जीत हासिल करने के बाद चुनावों के दौरान किये वायदों का क्या होता है वह मज़दूर-मेहनतकश वर्ग से ज्यादा अच्छी तरह कोई नहीं समझता। "बहुत हुई महँगाई की मार अबकी बार मोदी सरकार", "हर साल 2 करोड़ नौकरियाँ", "15 लाख रुपए सब के खाते में"...एक अन्तहीन सूची है जुमलों की। ये जुमले थे इसका पता तो इनके शासन में आने के बाद ही चला।

बहरहाल, कर्नाटक चुनावों में भी एक बार फिर "डबल इन्जन की सरकार" जैसे जुमलों को उछाला गया। लेकिन शायद भाजपा की चुनावी रणनीति बनाने वाले भूल गए कि कर्नाटक में तो "डबल इन्जन" की सरकार ही थी जो बेरोज़गारी, महँगाई, भ्रष्टाचार आदि सारी सीमाओं को पार गयी थी! इसलिए रोज़गार, महँगाई, भ्रष्टाचार व अन्य मुद्दों की जगह चुनाव अभियानों को सम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की राजनीति और नरेन्द्र मोदी की छवि भुनाने पर ज्यादा केन्द्रित किया गया। नरेन्द्र मोदी बड़ी-बड़ी रैलियों और रोड-शो के चेहरे बने और वेश बदल-बदल कर, धार्मिक उन्मादी भाषण दे-देकर वोट हासिल करने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना लगा दिया। लेकिन धार्मिक उन्माद और तथाकथित करिश्माई छवि दोनों ही कार्ड फीके रहे। मोदी-शाह की जोड़ी को कर्नाटक चुनाव में भारी हार का सामना करना पड़ा।

मोदी की छवि को पहुँचा यह आघात 2024 के लोकसभा चुनाव के मद्देनज़र भाजपा के लिए चिन्ता का विषय था इसलिए इसे तुरन्त दुरुस्त करने की ज़रूरत थी। मोदी कर्नाटक चुनाव परिणाम आने के फ़ौरन बाद विदेश यात्रा पर निकल पड़े! पापुआ न्यू गिनी के प्रधानमन्त्री ने मोदी के पाँव छुए, यह ख़बर दिन भर दुहरा-दुहरा कर समाचार चैनलों पर दिखायी गयी! फिर ऑस्ट्रेलिया में प्रवासी भारतीयों से मुलाक़ात की ख़बर चलायी गयी! ऑस्ट्रेलिया के प्रधानमन्त्री ने मोदी को बॉस बुलाया और मोदी समर्थक गदगद हो गये! यह अलग बात है कि मोदी की मौजूदगी में ही ऑस्ट्रेलिया ने कई राज्यों के भारतीय छात्रों के ऑस्ट्रेलिया आने पर पाबन्दी लगा दी! अन्तरराष्ट्रीय राजनीति के अपने जोड़-तोड़ और समीकरण होते हैं और इस समय विश्व पटल पर चीन के बढ़ते राजनीतिक और आर्थिक दबदबे पर कमान कसने के लिए अमेरिका, यूरोपीय देश, ऑस्ट्रेलिया व अन्य विकसित देश एशिया में भारत को अपने आधार की तरह देख रहे हैं। इसके अलावा भारत के संसाधनों, कच्चे माल और सस्ती श्रम शक्ति पर सब की निगाह है। मतलब यह कि विश्व पटल पर भारत की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति की वजह से मोदी को तवज्जो मिलती है। इन कारणों से मोदी के पहले के प्रधानमन्त्रियों को भी साम्राज्यवादी देशों के मुखिया यह तवज्जो देते रहे हैं। यह तो भक्तों के चश्मे की करामात है कि सब मोदी-मोदी दिखता है।

निश्चित ही यह खुशी की बात है की भाजपा की हार हुई है। लेकिन यह भी उतनी ही बड़ी सच्चाई है कि मतों के बँटवारे में पिछले चुनावों की तुलना में भाजपा के मतों की हिस्सेदारी में कमी नहीं आयी है। जहाँ काँग्रेस ने 135 सीटों पर जीत हासिल कर 42.9 प्रतिशत वोट प्राप्त किये, वहीं भाजपा ने केवल 66 सीटें जीतीं मगर वोटों में उसकी हिस्सेदारी 36 प्रतिशत रही, जो 2018 के कर्नाटक चुनावों के समान ही है। काँग्रेस की मतों में बढ़ोतरी 5 प्रतिशत की रही है। कुछ सीटों पर तो जीत बेहद कम फ़र्क से दर्ज हुई है। उदाहरण के तौर पर काँग्रेस 5 सीटों पर 2000 से काम मतों के फ़र्क से जीत हासिल की है तो भाजपा ने 7 सीटों पर 2000 से मतों के फ़र्क से जीत हासिल की है। 2000 से 5000 मतों के फ़र्क से 17 पदों पर काँग्रेस ने जीत हासिल की है। हालाँकि कई लोगों यह कहना भी है कि यदि ईवीएम का खेल न होता तो बहुत-सी सीटों पर कांग्रेस की जीत का अन्तर काफ़ी ज़्यादा होता।

1999 में बनी एच डी देवेगौड़ा की जनता दल (सेक्युलर) पार्टी के मतों की हिस्सेदारी में भारी गिरावट आयी है। जहाँ इस पार्टी ने 2018 में 36 सीटों पर जीत हासिल की थी, वह इस बार मात्र 19 सीट ही हासिल कर पायी है। यह कहा जा सकता है कि जनता दल (सेक्युलर) के मतों में जो 5 प्रतिशत की गिरावट आयी है वह काँग्रेस को मिले हैं क्योंकि भाजपा के मतों में गिरावट दर्ज़ नहीं हुई है, वह ज्यों की त्यों बनी हुई है।

चुनाव आयोग के राजनीतिक विभाजन के अनुसार कर्नाटक को 6 हिस्सों में बाँटा गया है।

क्षेत्र	सीटें
1. बेंगलूरू	36
2. बेलगौम/ किट्टुर/ मुंबई	36
3. सेंट्रल राजनीतिक विभाजन	21
4. गुलबर्गा/ कल्याण/ हैदराबाद	31
5. मैसूर/ दक्षिण	50
6. तटीय राजनीतिक विभाजन	50
कुल	**224**

कर्नाटक के चुनाव आधारित इस राजनीतिक विभाजन में सबसे शहरी क्षेत्र बेंगलूरू है। इस विभाजन में भाजपा और काँग्रेस के बीच काँटे की टक्कर रही। काँग्रेस को 18 और भाजपा को 17 पद मिलें लेकिन मतों के बँटवारे में भाजपा आगे रही। 2013 से 2023 के बीच भाजपा ने मतों के बँटवारे में 35.8 प्रतिशत से 41.2 प्रतिशत की बढ़त देखी है।

शहरी क्षेत्र में यह बढ़त विशेष तौर पर शहरी मध्यवर्ग में भाजपा की फ़ासीवादी राजनीति की मज़बूत होती पकड़ की ओर इशारा कर रही है जो आने वाले समय में राज्य के राजनीतिक परिवेश में साम्प्रदायिक फेर-बदल में अहम भूमिका निभायेंगे। अन्य राजनीतिक विभाजन की बात करें तो मैसूर क्षेत्र में भाजपा के मतों की हिस्सेदारी बढ़ी है। यह 2018 के 18.2 प्रतिशत की तुलना में 2023 में 21.4 प्रतिशत हो गई है। वहीं तटीय क्षेत्र भाजपा के गढ़ रहे हैं और अभी भी बने हुए हैं। 2018 के चुनवों में काँग्रेस को 3 सीटें और 39.2 प्रतिशत मतों में हिस्सेदारी हासिल हुई थी वहीं भाजपा को 18 सीटें और 51 प्रतिशत मत हासिल हुए थे। 2023 में काँग्रेस को 8 पद और 41.3 प्रतिशत मतों में हिस्सेदारी मिली। भाजपा को 13 पद तथा 46.3 प्रतिशत मतों में हिस्सेदारी मिली।

चुनावों के इस पहलू को देखते हुए हम कह सकते हैं कि संघ परिवार की विचारधारात्मक-सांगठनिक संरचना की उपस्थिति हर मौके पर यह सुनिश्चित करती है कि टुटपुँजिया वर्गों, लम्पट सर्वहारा और संगठित कर्मचारी वर्ग के एक विचारणीय हिस्से में फ़ासीवाद की ज़मीन तैयार होती रहे। पूँजीवादी संकट ज्यों-का-त्यों बना हुआ है और यह पूँजीपति वर्ग के भीतर राजनीतिक प्रतिक्रिया की ज़मीन तैयार करता है, जिसके कारण पूँजीपति वर्ग अपनी आर्थिक ताक़त को फ़ासीवादी राजनीति को शक्तिशाली बनाने में सन्नद्ध करता है, क्योंकि उसे संकट से निपटने के लिए आम मेहनतकश जनता की मज़दूरी व आमदनी को कम करने, श्रम को और प्रकृति को लूटने की पूरी छूट चाहिए होती है और इसके लिए एक दमनकारी सत्ता की ज़रूरत होती है। पूँजीवादी दायरे में रहते हुए बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों को आर्थिक संकट का एक ही उपाय नज़र आता है और वह है नवउदारवादी नीतियों को और सख़्ती से लागू करना जो कि अन्तत: संकट को और बढ़ाता ही है। असल में, पूँजीवाद के पास अपने आवर्ती क्रम से आने वाले आर्थिक संकट का कोई समाधान नहीं है। पूँजीवादी राजनीतिक पार्टियाँ रोज़गार, महँगाई नियंत्रण, स्वास्थ्य, शिक्षा के चाहे जितने वायदे कर लें, वे नवउदारवादी नीतियों से बच नहीं सकतीं। उदाहरण के लिए तमिलनाडु में एम. के. स्टालिन के नेतृत्व में द्रविड मुनेत्र कषगम की सरकार है और उसके साथ गठबंधन में माकपा भी शामिल रही थी। तमिलनाडु ने 12 घण्टे के कार्यदिवस को कानूनी बनाने के प्रयासों में है। संसदीय वाम पार्टियों के दवाब में इस कानून पर अभी स्टे है (क्योंकि यह संसदीय वाम पार्टियों के संगठित क्षेत्र के मज़दूरों में आधार को भी प्रभावित करेगा) लेकिन एम. के. स्टालिन सरकार की मंशा स्पष्ट है। उन्हें भी नवउदारवादी नीतियों को लागू करना है। अगर भाजपा तात्कालिक तौर पर कोई राज्य चुनाव या लोकसभा चुनाव हार भी जाये, तो अन्य कोई पूँजीवादी चुनावबाज़ पार्टी की सरकार भी नवउदारवादी नीतियों को ही लागू करेगी और जिस हद तक वह दिखावटी कल्याणवाद पर अमल करेगी, वह भी पहले से ज़्यादा आक्रामक तरीक़े से फ़ासीवादी उभार की ज़मीन तैयार करेगा। इसके गवाह 2014 के लोकसभा चुनाव हैं। 2004 में भाजपा हारी और काँग्रेस की सरकार बनी। 1999 की अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार गठबंधन सरकार थी लेकिन 2014 में भाजपा 283 सीटों पर जीत हासिल कर सबसे बड़ी पार्टी की तरह उभरी और 2019 के लोकसभा चुनावों में भी भाजपा को पूर्ण बहुमत हासिल हुआ है। हालाँकि 2014 में भाजपा नौकरी और महँगाई कम करने के वायदे ले कर आयी थी लेकिन 2019 में अपने सभी वायदों पर विफल रहने के बाद भी अंधराष्ट्रवाद और साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण के आधार पर और किसी विकल्प के अभाव में पूर्ण बहुमत के साथ दुबारा चुनी गयी।

यानी, कर्नाटक चुनावों में या किसी भी चुनाव में भाजपा की हार हम मज़दूर और आम-मेहनतकश वर्ग के लिए खुशी की बात है लेकिन चुनावी हार-जीत से फ़ासीवाद की निर्णायक हार-जीत तय नहीं होती। इसलिए चुनावों में भाजपा को मिली हार से जो थोड़ा राहतपूर्ण राजनीतिक माहौल बनता है, हम मज़दूर और आम-मेहनतकश वर्ग को जो थोड़ा जनवादी माहौल मिलता है, उसका फायदा उठा कर फ़ासीवाद और पूँजीवाद के विरुद्ध अपनी लड़ाई को और मजबूत बनाना चाहिए।

साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण और कर्नाटक चुनाव

इसमें कोई शक नहीं कि कर्नाटक की मज़दूर और आम मेहनतकश जनता ने भाजपा की हिन्दुत्ववादी साम्प्रदायिक राजनीति को बहुत हद तक खारिज किया है। साथ ही यह चुनाव भाजपा के राजनीतिक बौखलाहट के भी साक्षी रहे हैं। चुनावी अभियानों के दौरान अपनी भावी हार को देखते हुए भाजपा की राजनीतिक बौखलाहट मुखर हो कर सामने आ रही थी। हार की बौखलाहट में मोदी और भाजपाई इस कदर दिमागी संतुलन खो बैठे थे कि बजरंग दल की तुलना बजरंग बली से कर रहे थे। अपनी बौखलाहट में मोदी ने चुनावी रैलियों में बजरंग दल पर प्रतिबन्ध लगाने की तुलना बजरंग बली पर प्रतिबन्ध लगाने से कर दी और बजरंग बली के नारे मंच से लगाये। किसी धर्मनिरपेक्ष देश के प्रधानमंत्री का मंच से धार्मिक नारे लगाना कत्तई मान्य नहीं होना चाहिए। चुनाव आयोग को फ़ौरन नरेंद्र मोदी की रैलियों पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए था और धार्मिक उन्माद फैलाने के आरोप में कार्रवाई करनी चाहिए थी। लेकिन अब तो राज्यसत्ता के तमाम अंगों-उपांगों में संघीलोगों को भर दिया गया है और वे किसी प्रकार स्वतन्त्रता का दावा नहीं कर सकते हैं। ऐसे में चुनाव आयोग से किसी कार्रवाई की उम्मीद बेकार है।

बहरहाल, कर्नाटक के चुनावों के परिणाम पर जो चर्चा हम पहले कर चुके हैं उसके आधार पर हम यह नहीं कह सकते हैं कि भाजपा और संघ परिवार की साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की राजनीति को कर्नाटक की जनता ने पूरी तरह ख़ारिज किया है लेकिन एक बड़ी आबादी ने निश्चित ही इस राजनीति को ख़ारिज किया है और यह राहत की बात है।

भाजपा की चुनावी रैलियों से रोज़गार, शिक्षा, महँगाई, आवास और स्वास्थ्य नदारद थे और आते भी कैसे क्योंकि अभी सरकार में तो स्वयं भाजपा ही थी। भाजपा और संघ परिवार के लिए बिना कुछ किये वोट माँगने का सबसे सरल रास्ता होता है साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की राजनीति को हवा देना। इसकी तैयारी इस वर्ष के अरम्भ से ही भाजपा ने नंगे तौर पर शुरू कर दी थी। जनवरी में कॉलेज में हिजाब पहनने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। लोगों के बीच प्रतिरोध होने पर हिन्दुत्ववादी संगठनों को हिंसा की खुली छूट दे दी गयी। वैसे हिजाब या कुछ भी पहनना-ओढ़ना पूरी तरह व्यक्तिगत निर्णय और पसन्द का मामला होता है। इसमें राज्य का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। मज़दूर वर्ग तमाम धार्मिक प्रतीकों या पोशाक को पहने जाने पर एक जनवादी रवैया रखता

(पेज 8 पर जारी)

कर्नाटक चुनाव के नतीजे और मज़दूर-मेहनतकश वर्ग के लिए इसके मायने

(पेज 7 से आगे)

है। एक ओर विचारधारात्मक तौर पर हम ऐसी परम्पराओं का खण्डन करते हैं लेकिन दूसरी ओर हम हर व्यक्ति के निजी अधिकार का जनवादी उसूलों के आधार पर समर्थन करते हैं कि व्यक्तिगत तौर पर वह क्या पहने या न पहने। इस प्रकार के प्रश्न किसी कानून या सरकारी आदेश से हल नहीं किये जा सकते हैं बल्कि विचारधारात्मक व सांस्कृतिक स्तरोन्नयन का प्रश्न होते हैं। हम इस्लामी कट्टरपंथियों द्वारा हिजाब को थोपे जाने और हिन्दुत्ववादी फ़ासीवादियों द्वारा इस पर प्रतिबन्ध लगाने दोनों का ही विरोध करते हैं और इसे व्यक्तिगत मसला मानते हैं।

हिजाब पर प्रतिबन्ध के बाद संघी संगठनों ने मन्दिरों में गैर-हिन्दू दुकानों को बन्द करने का विवाद उछाला और फिर हिन्दू **जनजागृति समिति, श्रीराम सेना** और **बजरंग दल** ने अप्रैल में "हलाल" का मुद्दा उठाया। इन संघी संगठनों ने मुसलमानों की दुकानों पर जा कर तोड़-फोड़ और मार-पीट की तथा इसे "आर्थिक जिहाद" का नाम दिया। कर्नाटक सरकार ने खुले तौर पर इन संगठनों का साथ दिया। जल्द ही मन्दिरों ने मुसलमान दुकानदारों को अपनी दुकान लगाने से रोक दिया। इसके बाद अप्रैल में ही इन संघी संगठनों ने अज़ान को मुद्दा बनाया और अज़ान पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग उठायी। राज्य सरकार ने तुरन्त इन संघी संगठनों के समर्थन में पुलिस दौड़ा दी। हालाँकि कर्नाटक हाई-कोर्ट ने इस प्रतिबन्ध की माँग के ख़िलाफ़ न्याय दिया लेकिन हम समझ सकते हैं कि किस तरह चुनाव नज़दीक आने पर साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की राजनीति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। भाजपा की बौखलाहट और तेवर देख कर साफ़ तौर पर कहा जा सकता है कि 2024 के लोकसभा चुनावों में साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण के साथ-साथ अन्धराष्ट्रवाद की राजनीति को पूरी आक्रामकता के साथ हवा दी जायेगी।

जातिगत ध्रुवीकरण और कर्नाटक चुनाव

साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की ही एक और रणनीति के तहत उच्च जाति हिन्दुओं के मतों का रुझान अपनी ओर करने के मक़सद से मुसलमानों के 4 प्रतिशत आरक्षण को समाप्त करने का निर्णय भाजपा की कर्नाटक सरकार ने अप्रैल 2023 में लिया था। हालाँकि सरकारी शिक्षण संस्थानों और सरकारी नौकरियों में लगातार घटती सीटों और पदों को देखते हुए आरक्षण का होना या नहीं होना कोई खास मायने नहीं रखता है। लेकिन ऐन चुनाव के पहले सभी पार्टियाँ आरक्षण का मुद्दा उछाल कर जातिगत ध्रुवीकरण करती हैं और इस या उस जाति के वोट को अपनी ओर खींचने का पूरा प्रयास करती हैं। भाजपा ने भी इसी मक़सद से आरक्षण को हटाया। सारे नियम को ताक पर रखते हुए बस 4 प्रतिशत मुसलमानों के आरक्षण को समाप्त कर दिया गया तथा इसे समान अनुपात में लिंगायत और वोक्कालिगा के बीच बाँट दिया गया। यानी लिंगायत और वोक्कालिगा के आरक्षण बढ़ा दिये गये। इसके बावजूद भाजपा को हार का सामना करना पड़ा क्योंकि ये सारे तीन-तिकड़म बढ़ती बेरोज़गारी और महँगाई के सामने चले नहीं। मज़दूर और मेहनतकश वर्ग को भी साम्प्रदायिक और जातिगत ध्रुवीकरण को पूरी तरह ख़ारिज करना चाहिए क्योंकि यह हमें जाति और धर्म के आधार पर बाँट कर हमारी एकता को कमज़ोर करते हैं।

भ्रष्टाचार और कर्नाटक चुनाव

बेरोज़गारी और महँगाई के अलावा कर्नाटक की जनता पिछले 4 सालों में भयंकर भ्रष्टाचार से त्रस्त थी। सरकारी टेण्डर में होने वाले भ्रष्टाचार के अलावा सभी सरकारी विभागों में धाँधली चल रही थी। शिक्षा विभाग में हुए भ्रष्टाचार ने भाजपा सरकार के "चाल-चेहरा-चरित्र" को बुरी तरह बेनकाब कर दिया। सब-इन्स्पेक्टर की चयन परीक्षा में एक उच्च पुलिस अधिकारी धाँधली करता और घूस लेता पकड़ा गया। कर्नाटक की भाजपा सरकार के ऐसे सैकड़ों भ्रष्टाचार के उदाहरण हैं जो सामने आये। काँग्रेस ने चुनाव अभियान में भ्रष्टाचार को जम कर उछाला है। यह दीगर बात है कि काँग्रेस सरकार जिसके इतिहास में स्वयं एक से बढ़ कर एक भ्रष्टाचारों के नगीने जड़े हैं वह खुद भ्रष्टाचार से कैसे निपटेगी वह तो समय ही बतायेगा।

आर्थिक मुद्दे और कर्नाटक चुनाव

इस वर्ष अप्रैल महीने में एनडीटीवी और लोकनीति-सीएसडीएस ने मिल कर कर्नाटक में एक सर्वेक्षण किया था। यह सर्वेक्षण 28-20 अप्रैल 2023 को राज्य के 21 विधानसभा निर्वाचन क्षेत्रों के 82 मतदान केंद्रों के 2143 मतदाताओं के बीच किया गया था। इन 21 विधानसभा निर्वाचन क्षेत्रों का चयन बिना किसी क्रम या श्रेणी का पालन करते हुए किया गया था। सर्वेक्षण में पाया गया कि 28 प्रतिशत लोगों के अनुसार राज्य की सबसे ज्वलंत समस्या बेरोज़गारी है, 25 प्रतिशत के लिए ग़रीबी, 7 प्रतिशत के लिए विकास की कमी, महँगाई, शिक्षा व स्वास्थ्य प्रमुख समस्या थी। वहीं 6 प्रतिशत के लिए भ्रष्टाचार असल समस्या थी। उनसे जब अलग-अलग समस्याओं पर सीधे सवाल किये गये तो लगभग आधे लोगों ने कहा की भ्रष्टाचार बड़ी समस्या है और पिछले 5 सालों के भाजपा शासन में यह कई गुना बढ़ी है। ग़रीबी पर सीधे सवाल पूछे जाने पर 67 प्रतिशत ने कहा महँगाई पिछले 5 सालों में बहुत बढ़ी है और आज यह ग़रीबों के लिए बहुत बड़ी समस्या है। सर्वेक्षण के दौरान लगभग सभी नौजवानों ने बेरोज़गारी को सबसे बड़ी समस्या बताया। गरीबी की समस्या शहरी क्षेत्रों में होने के साथ-साथ ग्रामीण क्षेत्रों में भी विकराल रूप धारण कर रही है।

आज कर्नाटक के स्तर पर या किसी भी राज्य या कहें पूरे देश के स्तर पर मज़दूर और आम मेहनतकश आबादी और नौजवानों के सामने सबसे बड़ी समस्या और असल मुद्दे बेरोज़गारी, महँगाई, शिक्षा, आवास, स्वास्थ्य और भ्रष्टाचार ही हैं। धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्री और राष्ट्र के आधार पर अलग-अलग तरीकों से सभी पूँजीवादी पार्टियाँ जनता को बाँटती हैं जिसमें खुले तौर पर संघ और भाजपा साम्प्रदायिक और जातिगत ध्रुवीकरण की राजनीति करती है। काँग्रेस ने भी जनता के बीच इन्हीं मुद्दों को लेकर प्रचार किया था, यानी, बेरोज़गारी, महँगाई, शिक्षा आदि जिसमें भ्रष्टाचार सबसे प्रमुख था। 'भारत जोड़ो यात्रा' के दौरान भी राहुल गाँधी ने नियमित रूप से इन मुद्दों पर अपनी बातों को केन्द्रित रखा। भाजपा की साम्प्रदायिक राजनीति के अलावा "क्रोनी" पूँजीवाद को समस्याओं का कारण बताया। वैसे तो जब सरकार में नहीं होती है तो भाजपा भी रोज़गार, महँगाई और शिक्षा के मुद्दे उठती है। लेकिन असल समस्या यह है कि पूँजीवादी संकट के इस दौर में पूँजीवाद के दायरों के भीतर जनता को इन समस्याओं से छुटकारा दिलाना असम्भव है। राहुल गाँधी "क्रोनी" पूँजीवाद को निशान बना रहे हैं, यानी भाजपा के शासन में चन्द पूँजीपति घरानों को सारे लाभ मिल रहे हैं और काँग्रेस इसके ख़िलाफ़ है। मतलब, मेहनत और कुदरत को लूटने का अधिकार सभी पूँजीपतियों को बराबर मिलना चाहिये! कभी भी राहुल गाँधी नवउदारवादी आर्थिक नीतियों को अपना निशाना नहीं बनाते। वह बना भी नहीं सकते क्योंकि काँग्रेस भी पूँजीपति वर्ग की ही राजनीतिक प्रतिनिधि है। पूँजीवाद को अपने वर्तमान संकट का समाधान नवउदारवादी नीतियों के बिना रोक-टोक लागू होने में दिख रहा है। ऐसे में काँग्रेस जो स्वयं इन नीतियों का भारत में श्री गणेश करने वाली पार्टी है, इन नीतियों के ख़िलाफ़ हो ही नहीं सकती। वैसे देखा जाये तो यह कहना कि मात्र अदानी या अम्बानी को फ़ायदा पहुँच रहा है तथ्यतः गलत भी है। अदानी, अम्बानी के अलावा टाटा, बिरला, जिन्दल, किर्लोसकर, पूनावाला, बजाज, फिरोदिया, नादर, संघवी, कोटक, गोदरेज, प्रेमजी, और ऐसे ही अन्य बड़े पूँजीपति घराने भाजपा शषण से लाभ उठा रहे हैं और जम कर भाजपा को चन्दा दे रहे हैं। जब राहुल गाँधी और काँग्रेस क्रोनी पूँजीवाद को कटघरे में खड़ा करते हैं तो इसका दूसरा अर्थ यह निकलता है कि कोई ऐसा भी कोई पूँजीवाद होता है जो "क्रोनी" नहीं होता, भ्रष्ट नहीं होता, बल्कि अच्छा होता है। यानी जिसमें छोटे-बड़े पूँजीपति और मज़दूर-मेहनतकश-ग़रीब आबादी सभी सुख-चैन से जी सकते हैं! न कभी ऐसा कोई पूँजीवाद था न किसी क्रोनी पूँजीवाद के चले जाने के बाद ऐसा कोई पूँजीवाद आयेगा। एक पूँजीवादी राज्य और इस तरह कोई भी पूँजीवादी सरकार किसी एक या दो पूँजीपति घराने के हितों की रक्षा नहीं करती बल्कि पूरे पूँजीपति वर्ग के दूरगामी हितों की नुमाइन्दगी और रक्षा करती है। काँग्रेस कभी भी नवउदारवादी नीतियों को निशाना नहीं बना सकती जो सभी समस्याओं की असल जड़ है। इन नीतियों का पालन वह भी करती है और काँग्रेस शासित राज्यों में धड़ल्ले से यह नीतियाँ लागू हो रही हैं। राजस्थान में अदानी समूह ने 60,000 करोड़ के निवेश का प्रस्ताव रखा और इसके बाद यात्रा के मंच पर गौतम अदानी सुशोभित हुए। काँग्रेस ने क्रोनी पूँजीवादी के एक क्रोनी पूँजीपति का स्वागत यह कह कर किया कि कोई भी राज्य इतने बड़े निवेश का स्वागत निश्चित ही करेगा।

निष्कर्ष

काँग्रेस और राहुल गाँधी की भारत जोड़ो यात्रा को एक हद तक मिले आम मेहनतकश जनता के समर्थन का मतलब यह नहीं है कि जनता को और खास-कर मज़दूर-मेहनतकश आबादी को काँग्रेस की राजनीति में पूरा भरोसा है या उन्हें बहुत उम्मीद है। उनके पास फिलहाल कोई दूसरा विकल्प नहीं है। भाजपा के शासन ने जनता को त्रस्त कर दिया है। पिछले नौ सालों में बेरोज़गारी और महँगाई ने अपने सभी पुराने रिकार्ड तोड़ दिये है। मज़दूर-मेहनतकश अपनी आय का पचास प्रतिशत से अधिक मात्र भोजन पर ख़र्च कर रहे हैं। इसके बाद किराया, स्कूल की फीस, दवा-इलाज आदि के लिए मुश्किल से जुगाड़ हो पा रहा है। ऐसे में भाजपा के विरुद्ध जनता में गहरी भावना है। यह सही भी है कि भाजपा सरकार की सम्प्रदायिकता और अंधराष्ट्रवाद पर आधारित फ़ासीवादी राजनीति का पूर्ण बहिष्कार और उसे कचरापेटी के हवाले करना हमारा प्रथम लक्ष्य होना चाहिये। लेकिन इसके लिए मज़दूर वर्ग को अपना राजनीतिक तौर पर स्वतन्त्र पक्ष खड़ा करना होगा और उस ज़मीन पर खड़ा होकर जुझारू जनान्दोलनों को खड़ा करना होगा जो जनता के रोज़गार के हक़, बेहतर मज़दूरी के हक़, महँगाई से निजात के हक़, शिक्षा-चिकित्सा व आवास के हक़ के लिए समझौताविहीन तरीके से संघर्ष करे। इसके लिए हम इस या उस पूँजीवादी चुनावबाज़ पार्टी के पालकी के कहार नहीं बन सकते क्योंकि ये सभी पूँजीवादी चुनावी पार्टियाँ अपने-अपने तरीक़े से पूँजीपति वर्ग के ही अलग-अलग हिस्सों की सेवा करने के लिए बनी हैं, उन्हें के चन्दों पर चलती हैं और सरकार बनाने पर उन्हीं के लिए नीति बनाती हैं। और यदि संकट से कराह रहे पूँजीवाद के दौर में यदि फ़ासीवादी पार्टी की बजाय किसी अन्य पूँजीवादी पार्टी की सरकार बन भी जाये, तो वह नये सिरे से और पहले से ज़्यादा आक्रामक तरीके से फ़ासीवाद के नये उभार की ही ज़मीन तैयार करता है। वजह यह कि पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर मज़दूरों-मेहनतकशों के लिए कोई विकल्प नहीं है। हमें अपने असल मुद्दों से बिना एक इंच भी हटे आने वाले समये में पूरे देश की जनता को इन मुद्दों के इर्द-गिर्द लामबन्द करना चाहिये। इसी के ज़रिये फ़ासीवाद को चुनौती दी जा सकती है, उसे हराया जा सकता है और एक बेहतर व्यवस्था के संघर्ष को भी एक नयी मंज़िल में ले जाया जा सकता है।

एक बेहद प्रासंगिक उद्धरण

लोग राजनीति में हमेशा से धोखाधड़ी और ख़ुद को धोखे में रखने के नादान शिकार हुए हैं और तब तक होते रहेंगे जब तक वे तमाम नैतिक, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक कथनों, घोषणाओं और वायदों के पीछे किसी न किसी वर्ग के हितों का पता लगाना नहीं सीखेंगे। सुधारों और बेहतरी के समर्थक जब तक यह नहीं समझ लेंगे कि हर पुरानी संस्था, चाहे वह कितनी भी बर्बरतापूर्ण और सड़ी हुई क्यों न प्रतीत होती हो, किन्हीं शासक वर्गों के बल-बूते पर ही क़ायम रहती है, तब तक पुरानी व्यवस्था के संरक्षक उन्हें बेवकूफ़ बनाते रहेंगे। और इन वर्गों के प्रतिरोध को चकनाचूर करने का केवल एक तरीका है और वह यह है कि जिस समाज में हम रह रहे हैं, उसी में उन शक्तियों का पता लगायें और उन्हें संघर्ष के लिए जागृत तथा संगठित करें, जो पुरातन को विनष्ट कर नूतन का सृजन करने में समर्थ हो सकती हैं और जिन्हें अपनी सामाजिक स्थिति के कारण ऐसा करने में समर्थ होना चाहिए।

— लेनिन ('मार्क्सवाद के तीन स्रोत और तीन संघटक अंग')

कर्नाटक चुनावों के नतीजे, मोदी सरकार की बढ़ती अलोकप्रियता, फ़ासिस्टों की बढ़ती बेचैनी, साम्प्रदायिक उन्माद व अन्धराष्ट्रवादी लहर पैदा करने की बढ़ती साज़िशें और हमारे कार्यभार

(पेज 1 से आगे)

तो भाजपा बहुमत के आँकड़े तक नहीं पहुँच पायेगी। यह बात मोटे तौर पर सही है। लेकिन कई क्षेत्रीय पूँजीवादी चुनावी दलों के, जो कुलकों, फार्मरों, क्षेत्रीय पूँजीपतियों, व्यापारियों आदि की नुमाइन्दगी करते हैं, जिनका बड़ा हिस्सा पिछड़ी जातियों से आता है, नेतृत्व का निकृष्ट कोटि का अवसरवाद और महत्वाकांक्षाएँ ऐसी विपक्षी एकता के सामने बड़ा रोड़ा है। फिर भी, ऐसी विपक्षी एकता बनना असम्भव हो, ऐसा नहीं है। अगर ऐसी विपक्षी एकता या गठबन्धन अस्तित्व में आता है, तो भाजपा के लिए 2024 की डगर मुश्किल हो सकती है और वह चुनाव हार भी सकती है।

इस सम्भावना का अन्देशा होते ही संघ परिवार और भाजपा ने पूरे देश में 'लव जिहाद' और गोरक्षा के फर्जी मुद्दों को लेकर धार्मिक उन्माद पैदा करना शुरू कर दिया है। चाहे उत्तराखण्ड में 'लव जिहाद' की अफ़वाह के बूते दंगे जैसी स्थिति पैदा करना, मुसलमानों की दुकानें बन्द करवाना और उन्हें इलाका छोड़ने को मजबूर करना हो, महाराष्ट्र में 'लव जिहाद' के मसले पर उन्मादी रैलियाँ निकालना हो, या फिर उत्तर प्रदेश में केवल मुसलमान माफियाओं की कानूनेतर तरीके से "सफ़ाई" का मुख्यमन्त्री अजय बिष्ट उर्फ़ योगी आदित्यनाथ का अभियान हो; ये सारी तरक़ीबें मोदी-शाह के नेतृत्व वाली भाजपा आक्रामक तरीके से इसीलिए अपना रही है, क्योंकि अब 2024 के चुनावों का नतीजा एक खुला प्रश्न बन रहा है। यानी, अब यह पूर्वनिश्चित परिणाम नहीं रह गया है, हालाँकि ठीक अभी की स्थिति में गणितीय तौर पर सम्भावना का आकलन करें तो मोदी का ही पलड़ा भारी है। लेकिन यह भी सच है कि हवा के रुख़ में बदलाव की एक शुरुआत हुई है। अगर क्रान्तिकारी शक्तियों ने रुख़ बदलने की इस प्रक्रिया को अपने क्रान्तिकारी प्रचार और उद्वेलन के ज़रिये संवेग प्रदान किया तो रुख़ इसी दिशा में बदलना जारी रह सकता है।

मोदी की लोकप्रियता में ढलान की ऐसी स्थिति पिछले 9 वर्षों में कभी नहीं थी। आर्थिक तकलीफ़ों से परेशान जनता का, जिसे धर्म के नाम पर और बेरोज़गारी, महँगाई से निजात दिलाने के नाम पर भरमाया गया था, भरम टूट रहा है। भाजपा के आईटी सेल के लाख प्रयासों के बावजूद सोशल मीडिया पर आम लोगों द्वारा मोदी और भाजपा के विरुद्ध डाली जाने वाली सामग्री की बाढ़ आ गयी है और सोशल मीडिया पर संघी प्रचार पर भारी पड़ रही है। यही कारण है कि मोदी सरकार अब सोशल मीडिया पर लगाम कसने के कानून ला रही है। गोदी मीडिया की मदद से मोदी सरकार द्वारा अपना महिमा-मण्डन करवाने, अपने पक्ष में झूठा प्रचार करवाने, तमाम चीज़ों का झूठा श्रेय लेने और मोदी को दुनिया का कद्दावर नेता दिखाकर झूठे गर्व की भावना भरने के प्रयास लगातार जारी हैं। लेकिन जनता के जीवन की भौतिक स्थितियाँ इतनी भयंकर हो गयी हैं कि इस फ़ासीवादी झूठे प्रचार का असर भी पहले जैसा नहीं हो रहा है। स्वयं गोदी मीडिया ही जनता के एक विचारणीय हिस्से में दलाल मीडिया के रूप में बेनक़ाब हो चुका है। एक अच्छी-ख़ासी तादाद ने तो गोदी मीडिया के चैनल देखने ही बन्द कर दिये हैं और स्वतन्त्र व जनपक्षधर पत्रकारों के यूट्यूब चैनल देखने लगे हैं। इसलिए गोदी मीडिया के कई चैनल अब बीच-बीच में कुछ परिधिगत मुद्दों पर मोदी सरकार की दिखावटी आलोचना भी करने का प्रयास करते हैं, ताकि कुछ विश्वस्नीयता अर्जित कर सकें।

इतना स्पष्ट है कि पिछले 8-10 महीनों में देश में जनता के बीच राजनीतिक मूड-मिजाज़ में एक बदलाव आने की शुरुआत हुई है। कर्नाटक चुनावों के नतीजे हमारे सामने हैं, उससे पहले हिमाचल प्रदेश के नतीजे भी हमने देखे थे, हालाँकि दोनों जगह मोदी ने चुनाव प्रचार अभियान में काफ़ी पसीना बहाया था। अब मध्यप्रदेश में विधानसभा चुनावों के पहले के जो वोटर सर्वे आ रहे हैं और महाराष्ट्र में वोटरों के बीच जो सर्वे आ रहे हैं, उसमें भी भाजपा की हालत पतली बतायी जा रही है। इन प्रदेशों में भी भाजपा व संघ परिवार द्वारा निर्मित कट्टर साम्प्रदायिक सहमति में शामिल करीब 25 से 30 फ़ीसदी वोटरों के अलावा, भाजपा द्वारा नये वोटरों को जीतना मुश्किल है। ऐसे में, जिन राज्यों में विपक्ष का कोई बड़ा गठबन्धन है (जैसा कि महाराष्ट्र जहाँ कांग्रेस, एनसीपी और शिवसेना-उद्धव की महाविकास अघाड़ी) है या जिन राज्यों में कांग्रेस या किसी अन्य पार्टी की मौजूदगी विपक्ष की एकमात्र प्रभावी पार्टी के तौर पर है, वहाँ भाजपा की जीत हो पाना मुश्किल है। नतीजतन, इस बात की पूरी सम्भावना है कि मध्यप्रदेश (जहाँ 2024 के लोकसभा चुनावों से पहले चुनाव होंगे) और महाराष्ट्र में (जहाँ 2024 के लोकसभा चुनावों के साथ या ठीक बाद चुनाव होंगे) भाजपा सत्ता से बेदख़ल हो जाये। राजस्थान में सचिन पायलट कांग्रेस के लिए समस्या पैदा कर रहा है, लेकिन गहलोत सरकार ने चुनावों से पहले कई कल्याणकारी योजनाओं को आक्रामक तरीके से लागू किया है और सरकार के पक्ष में राय का निर्माण किया है। इसलिए वहाँ भी भाजपा की विजय सुनिश्चित नहीं है। दूसरे, भाजपा वहाँ स्वयं आन्तरिक कलह से जूझ रही है।

उत्तर प्रदेश एक ऐसा राज्य है जहाँ भाजपा अन्य राज्यों के मुकाबले बेहतर स्थिति में है और 2024 के चुनावों में उत्तर प्रदेश की अधिकांश सीटें भाजपा के खाते में ही जाने का अनुमान है। लेकिन सिर्फ उत्तर प्रदेश, गुजरात और उत्तराखण्ड में ज़्यादा सीटें जीतने और बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान तथा कर्नाटक में सम्मान बचाने योग्य सीटें जीत लेने से भाजपा का पूर्ण बहुमत में आना पक्का नहीं है। हरियाणा, पंजाब और हिमाचल प्रदेश से भाजपा ज़्यादा उम्मीद नहीं कर सकती है। दक्षिण भारत में केवल कर्नाटक में इसे कुछ सीटें मिल सकती हैं। पश्चिम बंगाल में भी उसे बहुत ज़्यादा सीटें मिलेंगी, इसकी गुंजाइश कम है। ओडिशा में भी यही स्थिति है। इसलिए 2024 के आम चुनावों में भाजपा की विजय जो कि अभी 8-10 महीने पहले तक पक्की मानी जा रही थी, अब वह पक्की नहीं मानी जा रही है। ज़्यादा सम्भावना अभी भी यही है कि भाजपा अपने गठबन्धन के साथ 2024 में सरकार बना सकती है। लेकिन जिस गति से भाजपा और मोदी की लोकप्रियता नीचे जा रही है और जिस तरह से उसके वोट अपने कोर हिन्दुत्व वोटरों तक, यानी जिनका कट्टर और पक्के तरीके से साम्प्रदायीकरण हुआ है, सीमित हो रहा है, उसे देखते हुए अगले 8-10 महीनों में स्थिति और भी ख़राब हो सकती है, बशर्ते कि मेहनतकश वर्ग अपने असल मुद्दों पर जुझारू जनान्दोलनों को संगठित करने में कामयाब हों।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भी इस बात को समझ रहा है कि अब 2024 में हार भी एक सम्भावना है, चाहे वह अभी क्षीण ही क्यों न हो। इसलिए उसने अपने मुखपत्र में साफ़ तौर पर भाजपा नेतृत्व को निर्देश दिया है कि वह केवल धर्म, बजरंग बली, हिन्दू-मुसलमान, मन्दिर-मस्जिद के आधार पर चुनाव नहीं जीत सकती है और उसे आर्थिक मोर्चे पर कुछ ठोस कदम तो उठाने पड़ेंगे जिससे कि लोगों को महँगाई और बेरोज़गारी से कुछ राहत मिले। लेकिन दिक्कत यह है कि यह उपाय भी पूरी तरह से भाजपा सरकार के नियंत्रण में नहीं है। पूँजीवादी आर्थिक संकट जारी है, मुनाफ़े की गिरती औसत दर से निजात पाने के लिए पूँजीपति वर्ग को औसत मज़दूरी में गिरावट की आवश्यकता है। नरेन्द्र मोदी को टाटा, बिड़ला, अम्बानी, अडानी सरीखे बड़े पूँजीपतियों ने इसीलिए तो सत्ता में पहुँचाया था कि वह मज़दूरों के बचे-खुचे श्रम अधिकारों को समाप्त करे, उनकी खुली लूट की इजाज़त दे और कुदरत की लूट की भी खुली छूट दे, निजीकरण की आँधी चला कर सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों को औने-पौने दामों पर निजी हाथों में सौंपे, पूँजीपतियों पर से करों का बोझ हटाकर जनता के ऊपर डाले और उनका जनता के पैसों से दिये गये कर्जों से मुक्त कर दे। पिछले 9 साल में मोदी सरकार ने ठीक यही किया है। किसी प्रकार का कल्याणवाद करने की स्थिति मोदी सरकार की है ही नहीं। उल्टे जो थोड़ा बहुत 'वेलफेयर' बचा था, मोदी सरकार ने उसका भी 'फेयरवेल' कर दिया है क्योंकि उसे पूँजीपति वर्ग ने इसी के लिए सत्ता में पहुँचाया था।

ऐसे में, भाजपा और संघ परिवार के पास दो ही औज़ार बचते हैं: साम्प्रदायिकता और अन्धराष्ट्रवाद। इस समय भाजपा की पूरी प्रचार मशीनरी और संघ का काडर ढाँचा इन्हीं पर काम कर रहा है। जगह-जगह जनता को धर्म पर बाँटने के नये-नये तरीके निकाले जा रहे हैं। ओडिशा ट्रेन दुर्घटना के पीछे भी पहले आतंकी साज़िश होने की अफ़वाह फैलाने का प्रयास किया गया था, ताकि इसमें मोदी सरकार के कार्यकाल में रेलवे में सुरक्षा इन्तज़ामात से की गयी आपराधिक लापरवाही को छिपा कर इसका दोष भी मुसलामानों पर डाला जा सके! लेकिन यह अफ़वाह ज़ोर नहीं पकड़ पायी। कुछ घण्टों के लिए न्यूज़ चैनलों पर ऐसी सुर्खियाँ चलायीं गयीं लेकिन सत्ता के दलालों को समझ में आया कि इस प्रकार का सफ़ेद झूठ फैलाने से मोदी सरकार को फ़ायदे से ज़्यादा नुकसान हो रहा है। इसके अलावा, उत्तराखण्ड से लेकर महाराष्ट्र तक और उत्तर प्रदेश से लेकर कर्नाटक तक संघ की प्रचार मशीनरी अफ़वाहों के ज़रिये गोमांस भक्षण से लेकर 'लव जिहाद' और 'आर्थिक जिहाद' आदि के बारे में उन्माद फैलाने की कोशिशों में लगातार लगे हुए हैं। ज़ाहिर है, गोदी मीडिया एक पालतू कुत्ते की तरह मोदी सरकार की सेवा में संलग्न है और स्वयं एक दंगाई की भूमिका निभा रहा है। दिल्ली में साक्षी नामक लड़की की एक मुसलमान युवक द्वारा हत्या को 'लव जिहाद' का मसला बनाने के लिए संघ परिवार ने एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया लेकिन 'भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी' (आर. डब्ल्यू.पी.आई.) के नेतृत्व में शाहबाद डेरी, दिल्ली की आम मेहनतकश जनता ने संघियों को खदेड़ दिया।

इसी प्रकार अन्धराष्ट्रवाद की भावना को भड़काने के लिए भी कभी पाकिस्तान तो कभी चीन का हौव्वा दिखाया जा रहा है, कभी नरेन्द्र मोदी को दुनिया का ऐसा नेता बताया जा रहा है जिसके एक फोन करने से यूक्रेन युद्ध रुक जाता है (ज़ाहिर है, यह झूठ है!) तो कभी किसी छोटे-से देश के प्रधानमन्त्री को मोदी का पाँव छूते दिखाया जाता है! इन सबके ज़रिये मोदी की यह छवि बनायी जाती है कि वह एक "मज़बूत नेता" है और देश में मोदी का कोई विकल्प नहीं है। भाजपा के पास अपनी सरकार के 9 साल के काम का कोई वास्तविक रिपोर्ट कार्ड दिखाना सम्भव ही नहीं है। 'मोदी सरकार के 9 साल' के नाम से चलाया गया भाजपा का प्रचार अभियान भी फ्लॉप साबित हुआ है। इसलिए अपनी पूरी ऊर्जा संघ परिवार देश के साम्प्रदायीकरण और अन्धराष्ट्रवाद फैलाने में ख़र्च कर रहा है।

ऐसे में, हमारे मुख्य कार्यभार क्या हैं जिन्हें पूरा करके हम मज़दूरों और मेहनतकशों के सबसे बड़े दुश्मन संघी फ़ासीवाद को चोट पहुँचा सकते हैं? आज मज़दूर वर्ग के हिरावल को व्यापक मेहनतकश जनसमुदायों में सघन और व्यापक प्रचार के ज़रिये मोदी सरकार के 9 सालों में आम जनता पर टूटी आपदा की सच्चाई को बताना चाहिए, अभूतपूर्व बेरोज़गारी और महँगाई के पीछे मौजूद असली कारणों के बारे में, यानी पूँजीवादी व्यवस्था का संकट और मोदी सरकार द्वारा किया गया जनविरोधी कुप्रबन्धन के बारे में बताना चाहिए, मोदी सरकार और संघ परिवार द्वारा साम्प्रदायीकरण के लिए उठाये जा रहे फर्जी मुद्दों जैसे कि 'लव जिहाद' और गोरक्षा की नौटंकी की सच्चाई से अवगत कराना चाहिए और भाजपाइयों का चाल-चेहरा-चरित्र उजागर करते हुए बताना चाहिए कि वे किस प्रकार भ्रष्टाचार, स्त्री-विरोधी अपराधों आदि में लिप्त हैं और किस प्रकार भाजपा की केन्द्र सरकार और राज्य सरकार ऐसे भ्रष्टाचारियों और दुराचारियों को संरक्षण दे रही है। हमें व्यापक मेहनतकश जनता को यह सच्चाई बतानी चाहिए कि मोदी सरकार के और 5 साल मज़दूरों-मेहनतकशों, ग़रीब व निचले मँझोले किसानों और निम्न मध्यवर्ग को बरबादी के रसातल में पहुँचा देगा।

मज़दूर वर्ग के हिरावल को जनता के बीच इस बात का व्यापक प्रचार करना चाहिए कि आज पूँजीवादी व्यवस्था उन्हें कोई विकल्प नहीं दे सकती। कोई भी चुनावबाज़ पूँजीवादी पार्टी उन्हें बेरोज़गारी, ग़रीबी, महँगाई से निजात नहीं दिला सकती क्योंकि वे पूँजीपति वर्ग की प्रतिनिधि हैं, पूँजीवादी व्यवस्था की सेवा करती हैं और पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर इन समस्याओं का स्थायी समाधान सम्भव ही नहीं है। इसलिए दूरगामी लक्ष्य है समाजवादी क्रान्ति के ज़रिये देश के कल-कारखानों, खानों-खदानों और खेतों-खलिहानों पर उत्पादन करने वाले मेहनतकश वर्गों का साझा कब्ज़ा स्थापित करना और एक मज़दूर सत्ता की स्थापना करना। लेकिन इसके लिए भी आज अपने सामने खड़े मज़दूर वर्ग के सबसे बड़े शत्रु यानी फ़ासीवादी संघ परिवार और भाजपा सरकार के खिलाफ संघर्ष की शुरुआत करने की

(पेज 10 पर जारी)

...साम्प्रदायिक उन्माद व अन्धराष्ट्रवादी लहर पैदा करने की बढ़ती साज़िशें और हमारे कार्यभार

(पेज 9 से आगे)

आवश्यकता है। आज ज़रूरत इस बात की है कि बेरोज़गारी, महँगाई, शिक्षा, आवास, चिकित्सा आदि बुनियादी सवालों पर एकदम ठोस माँगों के इर्द-गिर्द जनसमुदायों को गोलबन्द और संगठित किया जाय और इन प्रश्नों पर एक देशव्यापी जुझारू जनान्दोलन खड़ा किया जाय। ऐसा जुझारू जनान्दोलन ही जनता के कई हक़ों और अधिकारों को स्वीकार करने के लिए सत्ता को मजबूर कर सकता है, उसके संकट को बढ़ा सकता है और उसे एक असम्भाव्यता के बिन्दु पर पहुँचा सकता है। 2024 में कोई भी पार्टी चुनाव जीते, ऐसे जुझारू और समझौताविहीन जनान्दोलन के दबाव में उसे भी कई माँगों को स्वीकार करना पड़ सकता है। अगर वह माँगें नहीं स्वीकार करती है, तो मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था का राजनीतिक संकट और भी ज़्यादा गहरायेगा, व्यापक जनता में राजनीतिक चेतना का स्तरोन्नयन होगा, उसका राजनीतिक संगठन और नेतृत्व मज़बूत होगा और समाज को आमूलगामी तौर पर बदलने की क्रान्तिकारी प्रक्रिया आगे विकसित होगी।

हमें यह समझना चाहिए कि 2024 में यदि भाजपा और मोदी चुनाव में हार भी जायें (जिसकी सम्भावना फिलहाल कम है), तो भी यह फ़ासीवाद की निर्णायक पराजय नहीं होगी। फ़ासीवाद चुनावों में हारने से निर्णायक तौर पर पराजित नहीं होता है। केवल एक समाजवादी क्रान्ति ही उसे निर्णायक तौर पर हरा सकती है। दीर्घकालिक आर्थिक संकट और साम्राज्यवाद के मौजूदा मरणासन्न दौर में फ़ासीवाद इस सड़ते-गलते पूँजीवादी समाज की एक स्थायी परिघटना बन चुका है जो इसके साथ ही समाप्त होगा। फ़ासीवादी सत्ता का विकल्प फ़ौरी तौर पर भी किसी उदार पूँजीवादी जनवाद की स्थापना नहीं हो सकता। पूँजीवाद का वह दौर बीत गया जब आपवादिक तौर पर कुछ देशों में ऐसा सम्भव था। आज के दौर में, फ़ासीवाद को औपचारिक तौर पर बुर्जुआ जनवाद का खोल फेंकने की आवश्यकता नहीं है। फ़ासीवादी ताक़तें कई बार सत्ता में आ सकती हैं और सत्ता से जा सकतीं हैं। लेकिन हर बार फ़ासीवाद पूँजीवाद के गहराते आर्थिक और राजनीतिक संकट के कारण नयी आक्रामकता के साथ सत्ता में पहुँचता है क्योंकि कोई अन्य दक्षिणपंथी या उदार पूँजीवादी सरकार भी जनता को संकट के दौर में कुछ नहीं दे सकती और उन्हीं नवउदारवादी नीतियों को अपनी तरह से लागू करती है, जिनके नतीजे के तौर पर व्यापक मेहनतकश जनता को महँगाई, बेरोज़गारी, ग़रीबी, भुखमरी का सामना करना पड़ता है। ऐसे में, अगर जनता के सामने कोई क्रान्तिकारी विकल्प नहीं मौजूद होता जो उसे इन समस्याओं के असली कारण यानी पूँजीवादी व्यवस्था से अवगत करा सके, उन्हें गोलबन्द व संगठित कर सके, उन्हें एक व्यावहारिक फ़ौरी और दूरगामी राजनीतिक कार्यक्रम दे सके, तो जनता का एक विचारणीय हिस्सा फ़ासीवादी प्रचार का शिकार हो फ़ासीवादियों को सत्ता में पहुँचा सकता है, जैसा कि 2014 में हुआ था।

इसलिए आज जनता के असल मुद्दों पर जुझारू जनान्दोलनों को खड़ा करने के साथ हमें देशव्यापी क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी को भी खड़ा करना होगा, जो कि समूची पूँजीवादी व्यवस्था का विकल्प पेश करे, एक ऐसा व्यावहारिक आर्थिक कार्यक्रम पेश करे जो कि जनता की इन समस्याओं का स्थायी समाधान कर सकता हो, जो सर्वहारा वर्ग का उन्नत दस्ता हो और व्यापक मेहनतकश जनता का क्रान्तिकारी केन्द्र हो। ऐसी पार्टी वास्तव में क्रान्तिकारी जनान्दोलनों की प्रक्रिया में ही खड़ी की जा सकती है और ऐसी ही पार्टी जनता के जुझारू जनान्दोलनों में सर्वहारा लाइन के वर्चस्व को स्थापित कर सकती है, फ़ौरी और दूरगामी कार्यक्रम दे सकती है, फ़ौरी जनसंघर्षों को दूरगामी राजनीतिक लक्ष्य से जोड़ सकती है। आज ये दोनों कार्यभार हमारे सबसे अहम कार्यभार हैं: पहला, फ़ासीवाद-विरोधी जुझारू जनान्दोलनों को खड़ा करना जो जनता के जीवन से जुड़ी ठोस माँगों के इर्द-गिर्द गोलबन्द व संगठित हों; इसी प्रक्रिया में देश में एक क्रानितकारी मज़दूर पार्टी का निर्माण करना जिसके पास एक सही विचारधारात्मक समझ हो, सही राजनीतिक कार्यक्रम हो, जो क्रानितकारी जनदिशा पर अमल करती हो, लेनिनवादी उसूलों पर संगठित हो और ठीक इन्हीं वजहों से सर्वहारा वर्ग के हिरावल और व्यापक मेहनतकश जनता के क्रान्तिकारी कोर की भूमिका निभा सकती हो।

मणिपुर में जारी हिंसा : भारतीय राज्यसत्ता के राष्ट्रीय दमन और हिन्दुत्व फ़ासीवाद के नफ़रती प्रयोग की परिणति

(पेज 1 से आगे)

इम्फ़ाल में एक जनजाति समर्थन मार्च निकाला था जिसके बाद से प्रदेश में हिंसा भड़क उठी।

हालाँकि मणिपुर में नृजातीय संघर्ष के तार ब्रिटिशों द्वारा भारतीय उपमहाद्वीप के औपनिवेशिकीकरण के इतिहास से जुड़ते हैं, परन्तु अंग्रेजों के जाने के बाद भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता ने पूर्वोत्तर के अधिकांश हिस्सों की ही तरह जिस प्रकार से मणिपुर पर भी वहाँ के लोगों की रज़ामन्दी के बिना ज़ोर-ज़बरदस्ती और कूटनीतिक तिकड़मबाज़ी की ज़रिये क़ब्ज़ा किया उसकी वजह से वहाँ एक तरफ़ भारतीय राज्य के दमन के खिलाफ़ सशस्त्र संघर्ष उठ खड़े हुए वहीं दूसरी ओर राज्य के विभिन्न हिस्सों में रहने वाले नृजातीय समूहों के बीच आपस में ज़मीन और संसाधनों को लेकर विवाद और टकराव बढ़ते चले गए। मिसाल के लिए नगा-कुकी विवाद, नगा-ज़ोमी विवाद, मैतेयी-मुस्लिम विवाद, कुकी-मैतेयी विवाद, कुकी-कार्बी विवाद, नगा-मैतेयी विवाद आदि। भारतीय राज्यसत्ता ने भी अपने खिलाफ़ खड़े हो रहे प्रतिरोध को तोड़ने के लिए विभिन्न नृजातीय अस्मिताओं पर आधारित सैन्य गुटों के निर्माण को बढ़ावा दिया, इन नृजातीय अस्मिताओं का नेतृत्व कर रहे नेताओं को विकास के नाम पर दिये जा रहे फ़ण्ड में हिस्सेदारी सुनिश्चित कर उन्हें भ्रष्ट करने का काम किया। पूँजीवादी विकास के फलस्वरूप पैदा हुए क्षेत्रीय असन्तुलन ने इन टकरावों को और तीखा करने का काम किया। ग़ौरतलब है कि मणिपुर के पहाड़ी इलाक़ों में बसने वाली कुकी व नगा जैसी जनजातियों का मुख्य पेशा झुम खेती रहा है। परन्तु पूँजीवादी विकास की ज़रूरतों के मद्देनज़र भारतीय राज्यसत्ता और मणिपुर की राज्य सरकार मणिपुर के पहाड़ी इलाक़ों में जनाजतियों को बेदखल करके ज़मीन, जंगलों व अन्य संसाधनों पर अपना क़ब्ज़ा करना चाहती है। इस साल फरवरी के महीने में मणिपुर की पहाड़ियों में स्थित कई कुकी गाँवों को अवैध बताकर सैकड़ों लोगों को बेदखल किया था जिसके बाद कुकी लोगों का ज़बर्दस्त रोष देखने में आया था और उस समय भी मणिपुर में अशान्ति की स्थिति उत्पन्न हुई थी।

उपरोक्त कारकों के अलावा मणिपुर की हालिया हिंसा में एक नया कारक मणिपुर में संघ परिवार व भाजपा की बढ़ती मौजूदगी और उसके नफ़रती फ़ासिस्ट प्रयोग का रहा है। ग़ौरतलब है कि मणिपुर में 2017 से ही भाजपा की सरकार है जिसका इस समय दूसरा कार्यकाल चल रहा है। पिछले छह वर्षों में संघ परिवार ने सचेतन रूप से मणिपुर में मैतेयी राष्ट्रवाद को बढ़ावा देने और उसे हिन्दुत्ववादी भारतीय राष्ट्रवाद से जोड़ने के तमाम प्रयास किये हैं। हाल के वर्षों में ऐसी अनेक संस्थाएँ अस्तित्व में आयी हैं जो मैतेयी लोगों के हितों की नुमाइन्दगी करने के नाम पर खुले रूप में मणिपुर की अन्य जनजातियों, जैसे कुकी और नगा के प्रति घृणा का माहौल पैदा कर रही हैं। ऐसे ही मैतेयी राष्ट्रवादी संगठन मैतेयी लोगों को अनुसूचित जनजाति का दर्जा दिलाने की माँग ज़ोर-शोर से उठा रहे हैं। ये संगठन मैतेयी लोगों का यह लालच दे रहे हैं कि अनसूचित जनजाति का दर्ज़ा मिलने के बाद वे पहाड़ी इलाक़ों में ज़मीन ख़रीद सकेंगे जो वे फिलहाल नहीं कर सकते। वे मैतेयी लोगों में इस डर को फैला रहे हैं कि आप्रवासन की वजह से पहाड़ों में रहने वाली जनजातियों, ख़ासकर कुकी लोगों की आबादी में लगातार बढ़ोतरी हो रही है और जल्द ही मैतेयी लोग अल्पसंख्यक बन जायेंगे। मणिपुर की भाजपा सरकार भी इन मैतेयी संगठनों को खुलेआम बढ़ावा देती आयी है। ग़ौरतलब है कि मणिपुर के 60 विधानसभा निर्वाचन क्षेत्रों में 40 इम्फ़ाल घाटी में स्थित हैं जहाँ मैतेयी लोगों का ही प्रभुत्व है। मणिपुर के मुख्यमन्त्री एन. बीरेन सिंह भी मैतेयी समुदाय से आते हैं और हाल की हिंसा में उन्होंने खुलकर मैतेयी लोगों का पक्ष लेते हुए कुकी लोगों के खिलाफ़ ज़हर उगला है और इस हिंसा के लिए मुख्य रूप से कुकी मिलिटेंसी को ज़िम्मेदार ठहराया है। बीरेन सिंह की सरकार ने प्रशासन व पुलिस के शीर्ष पदों पर भी मैतेयी लोगों की नियुक्ति करके पहाड़ी इलाकों में बसने वाली जनजातियों की प्रशासन में भागीदारी भी लगातार कम की है और इस वजह से मौजूदा हिंसा के दौरान भी समूचे प्रशासन का रवैया कुकी लोगों के प्रति दुर्भावना व भेदभाव वाला रहा है। यही नहीं संघ परिवार नृजातीय टकरावों को साम्प्रदायिक रंग देने की भी कोशिश लगातार करता आया है।

ग़ौरतलब है कि मैतेयी लोगों की अधिकांश आबादी हिन्दू धर्म को मानने वाली है जबकि पहाड़ी इलाक़ों में रहने वाले कुकी और नगा जनजातियों की अधिकांश आबादी ईसाई धर्म को मानने वाली है। मैतेयी और कुकी विवाद को धार्मिक व साम्प्रदायिक रंग में रंगने की ही नतीजा यह रहा कि मौजूदा हिंसा में कुकी लोगों के घरों सहित उनके चर्चों पर हमले किये गये। जवाब में कुकी समूहों ने भी मैतेयी लोगों के मन्दिरों पर हमले किये। संघ परिवार ने अपनी साम्प्रदायिक फ़ासीवादी राजनीति के तहत देशभर में इस पूरे प्रकरण को ईसाई बनाम हिन्दू के रूप में प्रचारित किया।

इस पूरे प्रकरण में एक अन्तरराष्ट्रीय पहलू भी है। ग़ौरतलब है कि मणिपुर की सीमा म्यांमार से लगी हुई है। म्यांमार में पिछले दो वर्षों के दौरान वहाँ के सैन्य शासकों द्वारा दमन की वजह से कई जनजातियों के लोग भारत की ओर पलायन करने को मजबूर हैं। ऐसे तमाम आप्रवासी मिज़ोरम व मणिपुर में शरण ले रहे हैं। कुकी जनजाति के लोगों को म्यांमार में चिन कहा जाता है। एक ही जनजाति होने के नाते कुकी लोगों ने हाल के वर्षों में चिन लोगों को पनाह दी है। क़ायदे से भारत सरकार व मणिपुर की राज्य सरकार को मानवीय आधार पर शरणार्थियों को शरण देने के औपचारिक इन्तज़ामात करने चाहिए थे, परन्तु इसकी बजाय मैतेयी राष्ट्रवादी संगठन इम्फ़ाल में मैतेयी लोगों के बीच यह अफ़वाह उड़ा रहे हैं कि कुकी लोगों की बढ़ती आबादी की वजह से मैतेयी लोग मणिपुर में अल्पसंख्यक बन जायेंगे और चूँकि कुकी लोग इम्फ़ाल में ज़मीन ख़रीद सकते हैं इसलिए इम्फ़ाल में उनका प्रभुत्व हो जायेगा। सबसे ख़तरनाक बात यह है कि मणिपुर की सरकार इन मैतेयी संगठनों के सुर से सुर मिला रही है। हाल ही में मणिपुर के मुख्यमंत्री एन. बीरेन सिंह ने मणिपर में भी असम की तर्ज़ पर नेशनल रजिस्टर ऑफ़ सिटिजन्स (एनआरसी) तैयार करने की बात की है ताकि चिन आप्रवासियों को अवैध करार देकर उन्हें मणिपुर से बाहर निकाला जा सके।

मैतेयी अस्मितावादी राजनीति की प्रतिक्रिया में कुकी लोगों के बीच से भी कुकी पहचान पर ज़ोर देने वाली कुकी अस्मितवादी राजनीति भी ज़ोर पकड़ रही है। कुकी नेशनल ऑर्गनाइज़ेशन जैसे कुकी अस्मितावादी संगठन मणिपुर से अलग होकर भारतीय यूनियन के भीतर कुकी लोगों का अपना राज्य कुकीलैण्ड बनाने की माँग कर रहे हैं। हाल ही में मणिपुर के कुछ कुकी विधायकों ने इस बाबत केन्द्र सरकार से अपील भी की है।

इस प्रतिस्पर्धी अस्मितावादी राजनीति ने मणिपुर के हालात बिगाड़ने में अहम भूमिका अदा की है क्योंकि इसकी वजह से मणिपुर हिंसा और प्रतिहिंसा के दुष्चक्र से बाहर नहीं निकल पा रहा है। परन्तु हालात को इस नाजुक मुक़ाम पर पहुँचाने के लिए सर्वोपरि तौर पर भारतीय राज्यसत्ता ज़िम्मेदार है क्योंकि उसने वर्षों से अपने ख़िलाफ़ हो रहे प्रतिरोध को तोड़ने के लिए नृजातीय अस्मितावादी संगठनों और राजनीति को बढ़ावा दिया है। पूर्वोत्तर के राज्यों में बढ़ती नृजातीय हिंसा का फ़ायदा उठाकर भारतीय राज्यसत्ता को समूचे क्षेत्र में अपनी सैन्य उपस्थिति को बढ़ाने व उसे जायज़ ठहराने तथा ऑर्म्ड फ़ोर्सेज़ स्पेशल पावर्स एक्ट जैसे कुख्यात क़ानून का लागू करने में भी मदद मिलती है। इसमें ताज्जुब की बात नहीं है कि भारतीय राज्यसत्ता पर हिन्दुत्ववादी फ़ासिस्टों के क़ाबिज़ होने के बाद अस्मिताओं के टकराव और भी ज़्यादा हिंसक रूप में सामने आ रहे हैं। मणिपुर व पूर्वोत्तर के अन्य राज्यों के लोगों को भारतीय राज्यसत्ता की 'फूट डालो व राज करो' की इस राजनीति को समझना होगा और नृजातीय संघर्षों में उलझने के बजाय अपनी शक्ति अपने साझा उत्पीड़क व दमनकर्ता यानी भारतीय राज्यसत्ता के ख़िलाफ़ संघर्ष में लगानी होगी। तभी वे अपने राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्ष को भी उसके मुकाम तक ले जा सकेंगे।

‘द केरला स्टोरी’: संघी प्रचार तन्त्र की झूठ-फ़ैक्ट्री से निकली एक और फ़िल्म

● केशव आनन्द

“एक झूठ को अगर कई बार दोहराया जाये तो वह सच बन जाता है”, जर्मनी के तानाशाह एडोल्फ़ हिटलर के मुख्य सलाहकारों में से एक गोएबल्स के इस कथन को आज भारत में फ़ासीवादी ताक़तें धड़ल्ले से लागू कर रही हैं। जिस तरीक़े से जर्मनी में यहूदियों को बदनाम करने के लिए किताबों, अख़बारों और फ़िल्मों के ज़रिए तमाम अफ़वाहें फ़ैलायी जाती थीं, आज उससे भी दोगुनी रफ़्तार से हिन्दुत्व फ़ासीवाद मुसलमानों के ख़िलाफ़ ज़हर उगल रहा है। ‘द केरला स्टोरी’ भारत के हिन्दुत्व फ़ासीवाद के प्रचार तन्त्र में से ही एक है।

यह अपने आप में ही हास्यास्पद है कि जिस तथ्य को आधार बनाकर इस फ़िल्म का प्रचार किया गया, वह तथ्य ही एक झूठ निकला। निर्देशक सुदीप्तो सेन के मुताबिक़ ‘द केरला स्टोरी’ केरल में «लव जिहाद» के ज़रिए «मुस्लिम आतंकवादियों» द्वारा «भोली-भाली हिन्दू लड़कियों» को बहलाकर आतंकी संगठन आईएसआईएस में शामिल करवाने के ऊपर बनी है। इस फ़िल्म की मुख्य किरदार अदा शर्मा फ़िल्म के टीज़र के दौरान कहती हैं, «मेरे जैसी 32,000 लड़कियाँ सीरिया और अफ़ग़ानिस्तान के रेगिस्तान में दफ़्न हैं।» **लेकिन जब तथ्यों पर सवाल उठने शुरू हुए और यह मामला न्यायालय तक पहुँचा, तो फ़िल्म निर्देशक बड़ी ही चालाकी से यू ट्यूब के इस वीडियो में 32,000 के आँकड़े को 3 पर ले आते हैं!** यूएस डिपार्टमेण्ट ऑफ़ स्टेट्स कण्ट्री रिपोर्ट ऑन टेररिज़्म 2020 के मुताबिक़ उस वक्त भारत में केवल 66 की संख्या में आईएसआईएस के लोग सक्रिय थे। **साथ ही इस फ़िल्म में जिस «बेचारी» लड़की को लव जिहाद का शिकार होते हुए दिखाया गया है, असल में उस लड़की की वास्तविक वीडियो और तथ्य कुछ और ही बताते हैं।**

यह फिल्म मुख्यतः तीन प्रकार के आधारों पर खड़ी है। **पहला, हिन्दू महिलाओं को मन्दबुद्धि दिखाना और हिन्दुत्ववादी पितृसत्तात्मक मूल्यों को सही ठहराना, दूसरा देश के हर मुसलमान व्यक्ति को आतंकवादी और देशद्रोही बताना** (हालाँकि इस दायरे में कम्युनिस्टों को भी लाने की भरपूर कोशिश की जाती है) और तीसरा पहले दो आधारों को विकसित करने के लिए तीसरे आधार यानी सफ़ेद झूठों का सहारा लिया जाता है।

इस फ़िल्म के पहले आधार से शुरुआत करते हैं। इसकी शुरुआत में ही मुख्य किरदार शालिनी कॉलेज में जाने की तैयारी कर रही होती है, जहाँ उसे कॉलेज की ओर से रहने के लिए हॉस्टल दिया जाता है। तब उसकी नानी कहती हैं, «अकेली लड़की को बाहर भेजना ठीक नहीं।» चूँकि वह लड़की अन्ततः तथाकथित “लव जिहाद” की वजह से फँस जाती है, इसलिए यह कथन अपने आप में पितृसत्तात्मक मूल्य मान्यताओं को सही ठहराने का काम करता है। फ़िल्म के वे दृश्य जिनमें शालिनी के इस्लाम को मानने की प्रक्रिया दिखायी गयी है, वह भी काफ़ी बचकाना है। जिस प्रकार 90 के दशक की फ़िल्मों में नायक अपनी प्रेमिका को हासिल करने के लिए ख़ुद ही गुण्डों को भेजता था, और ख़ुद ही मौक़े पर पहुँचकर उन्हें भगाता था, ठीक उसी प्रकार निर्देशक ने यहाँ शालिनी और उसकी दोस्त को इस्लाम कुबूल करवाने के लिए गुण्डे भेजे और उसके बाद वे इस तर्क पर हिज़ाब पहनने को राज़ी हो गयीं कि हिज़ाब पहनने के बाद उन्हें कोई नहीं छेड़ेगा! सभी जानते हैं कि ऐसे तर्कों के आधार पर कोई धर्मान्तरण नहीं करता है। लेकिन हाफ़-पैण्टी प्रोपगैण्डा के लिए बनी फिल्मों से सामान्य बोध की उम्मीद करना कुछ ज़्यादा ही हो जायेगा। इस फ़िल्म में इस तरह के तमाम बचकाने तर्क मिल जायेंगे, जिसे सुनकर कोई संघ के गोबरधारी प्रचारों से भरा दिमाग ही आगबबूला होकर मुसलमानों के ख़िलाफ़ अपने जीवन की कुण्ठाएँ निकाल सकता है। अन्यथा आप इस बचकानेपन पर केवल हँस ही सकते हैं। फ़िल्म के कई दृश्यों में इन लड़कियों को दोज़ख़ का डर दिखाकर उनसे इस्लाम के कई कर्मकाण्डों को कराया जाता है। यानी इस फ़िल्म में यह दिखाया गया है कि हिन्दू लड़कियाँ इतनी मूर्ख होती हैं कि उन्हें बहुत ही ढीला तर्क देकर भी बहकाया जा सकता है। असल में यह फ़िल्म पितृसत्तात्मक मूल्य मान्यताओं को स्थापित करने का काम करती है और बड़े झूठों को दिखाकर सच को छिपाने का काम करती है। यानी इस फ़िल्म में “लव जिहाद” के ज़रिए धर्मान्तरण कर दी जाने वाली लड़कियों की «तक़लीफ़» की आड़ में हिन्दुत्ववादी पितृसत्ता को सही ठहराने का काम किया गया है।

अब इस फ़िल्म के दूसरे आधार पर आते हैं। इस फ़िल्म के ज़रिए जो चीज़ दर्शक के दिमाग में बिठाने की कोशिश की जाती है, वह है मुसलमानों के ख़िलाफ़ नफ़रत। यह फ़िल्म चन्द झूठे उदाहरणों को दिखाकर यह खुलेआम घोषित करती है कि सारे मुसलमान आतंकवादी होते हैं। अगर हम इस फ़िल्म के कुछ दृश्यों का उदाहरण लें तो इसे हम और बेहतर समझ पायेंगे। फ़िल्म की नायिका जैसे ही कॉलेज में प्रवेश करती है, वैसे ही उसे दीवार पर कश्मीर के समर्थन में कई नारे दिखते हैं और फिर ओसामा बिन लादेन की तस्वीर भी दिखती है। यह दृश्य अपने आप में कश्मीरी जनता के संघर्ष को सीधे तौर पर आतंकवादी क़रार दे देती है। साथ ही इस फ़िल्म में यह दिखाया गया है कि किस प्रकार आईएसआईएस के आतंकवादी योजनाबद्ध तरीके से हिन्दू महिलाओं को अपने प्यार के जाल में फँसाते हैं और ये लड़कियाँ जब अपने घरों से बग़ावत कर उनके साथ चली जाती हैं, तो उन्हें आतंकवादी बनने के आलावा और कोई चारा नज़र नहीं आता। फ़िल्म के एक दृश्य में एक लड़की, जो तथाकथित लव जिहाद के जाल में «फँस» चुकी होती है, कहती है, «हम लोगों को मुस्लिम लड़के से प्यार हुआ तो कोई गुनाह हुआ क्या? ... प्यार के लिए अपना धर्म परिवर्तन तो कर ही सकते हैं। ...» यह कथन फ़िल्म में जिस रूप में पेश किया गया है उससे दर्शक को यही सम्प्रेषित होता है कि हिन्दू लड़कियों को मुस्लिम लड़कों से सम्बन्ध नहीं बनाने चाहिए, क्योंकि वे “लव जिहाद” का खेल खेलते हैं। ज़ाहिरा तौर पर यहाँ निशाना आम मुस्लिम आबादी है, न कि कोई ख़ास तरह के मुस्लिम। दूसरा, 32,000 के जिस आँकड़े के आधार पर फ़िल्म का ये नाट्य दृश्य रचा गया है, वह ख़ुद ही आधारविहीन है, जिसका ज़िक्र हमने ऊपर ही कर दिया है।

इस फ़िल्म में जो सबसे बड़े हथियार के रूप में इस्तेमाल किया गया है, वह है झूठ। **जो आँकड़े इस फ़िल्म में इस्तेमाल किये गये हैं, वे तो सफ़ेद झूठ है, केरल के पूर्व मुख्यमन्त्री का जो भाषण इसमें दिखाया गया है, उसे भी तोड़ मरोड़कर पेश किया गया है। वास्तविक भाषण में शब्दों का हेरफेर कर उसे मुस्लिम विरोधी बना दिया गया।** साथ ही इस फ़िल्म में नंगे रूप से भारत की आम मुस्लिम आबादी और अपने कौमी हक़ों के लिए लड़ रहे कश्मीर के लोगों को आतंकवादी क़रार दे दिया गया है।

ज़ाहिरा तौर पर एक फ़ासीवादी प्रचार होने के तौर पर इस फ़िल्म में कम्युनिस्टों को भी हिन्दू धर्म के बरक्स बुरी विचारधारा वाले लोगों के तौर पर

(पेज 12 पर जारी)

‘द गुजरात स्टोरी’ : भाजपा के शासन में गुजरात में 41 हज़ार महिलाएँ लापता!

● भारत

एक तरफ़ मोदी व भाजपा सरकार महिलाओं के विकास, सुरक्षा की डींगे हाँकती रहती है, बड़े-बड़े जुमले फेंकती है, वहीं इसके उलट गुजरात से, जहाँ बीते 27 वर्षों से भाजपा की ही सरकार है, महिला सुरक्षा को लेकर एक बड़ी ख़बर आयी है। गुजरात में वर्ष 2016 से वर्ष 2020 के बीच 41,621 महिलाएँ गायब हो चुकी हैं। यह आँकडे एनसीआरबी नेशनल क्राइम रिपोर्ट ब्यूरो ने सार्वजनिक किये हैं। राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (एनसीआरबी) के आँकड़ों के अनुसार 2016 में 7,105, 2017 में 7,712, 2018 में 9,246 और 2019 में 9,268 महिलाएँ लापता हुई हैं। साल 2020 में 8,290 महिलाओं के लापता होने की सूचना मिली थी, जिसके बाद कुल संख्या 41,621 तक पहुँच गयी। वहीं राज्य सरकार द्वारा 2021 में विधानसभा में बताया था कि अहमदाबाद और वडोदरा में केवल एक वर्ष 2019-20 में 4,722 महिलाएँ लापता हो गयी थीं। गुजरात पुलिस अपनी साख़ बचाने के लिये कह तो रही है कि इसमें से 94 फ़ीसदी महिलाओं का पता लगा लिया गया है, पर इस बात का कोई आधार नहीं पेश किया गया है। भाजपा शासित गुजरात में महिलाओं के ख़िलाफ़ अपराध लगातार बढ़ता जा रहा है। 2021 में राज्य में महिलाओं के ख़िलाफ़ अपराध की 7,348 घटनाएँ हुई। 2021 में बच्चों के ख़िलाफ़ अपराध में 4515 मामले दर्ज़ किये गये थे। इसमें 2020 के मुक़ाबले 10 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। पिछले बजट सत्र में गृह राज्य मन्त्री हर्ष सांघवी ने राज्य विधानसभा को सूचित किया है कि दो वर्षों (2020 और 2021) में राज्य में कुल 3,796 बलात्कार के मामले दर्ज़ किये गये थे।

पूरे देश की तरह गुजरात में भी भाजपा के नेता-मन्त्री महिलाओं का शोषण करने में आगे हैं। महिलाओं से बलात्कार के भी कई मामले सामने आये हैं जिनमें भाजपा से जुड़े लोग ही मुख्य आरोपी थे। नलिया काण्ड हो या विकलांग महिला का यौन शोषण, इन सब मामलों में भी कुलदीप सिंह सेंगर व चिन्मयानन्द के मामलों की तरह आरोपियों को छोड़ दिया गया या सिर्फ़ मामूली कारवाई की गयी। गुजरात में ही बिल्किस बानो के बलात्कारियों को भाजपा ने “संस्कारी” बता कर शरण दी।

“सभ्यता-संस्कार-शुचिता” की बात करने वाली भाजपा की हक़ीक़त यही है! इन्हें महिलाओं की सुरक्षा से कोई लेना देना नहीं है। 2014 में यह बात करते हुए आये थे – “बहुत हुआ नारी पर वार, अबकी बार मोदी सरकार!” पर मोदी सरकार के आने के बाद से हर जगह महिलाओं पर वार बढ़ता ही जा रहा है। आज देश की महिला पहलवान तक इन भाजपाइयों के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ उठा रही हैं। जब सत्ता में ऐसे लोग बैठे हों जिनकी सोच स्त्रियों को पैरों की जूती समझने की हो, जिनकी पार्टी और संसदीय दल बलात्कार के आरोपियों से भरे हुए हों, जिनके मन्त्री और विधायक एक बच्ची के बलात्कारियों के पक्ष में तिरंगा लेकर जुलूस निकालते हों, जिनके मुख्यमन्त्री के मंच से मुस्लिम महिलाओं को क़ब्र से निकालकर बलात्कार करने का आह्वान किया जाता हो, हर बलात्कारी बाबा जिस पार्टी के नेताओं के अगल-बग़ल दिखायी देता हो, और जिनकी विचारधारा में बलात्कार को विरोधी पर विजय के हथियार के रूप में महिमामण्डित किया जाता हो, तो वैसी भाजपा पार्टी से आप स्त्रियों की सुरक्षा की उम्मीद कैसे कर सकते हैं? एसोसिएशन फ़ॉर डेमोक्रेटिक रिफ़ॉर्म्स की रिपोर्ट के अनुसार वर्तमान लोकसभा में क़रीब 43 प्रतिशत सांसदों के विरुद्ध स्त्री-विरोधी अपराधों सहित तमाम तरह के आपराधिक आरोप हैं। इनमें सबसे बड़ी संख्या भाजपा के सांसदों की है जिनमें से 30 प्रतिशत के विरुद्ध बलात्कार, हत्या, अपहरण जैसे गम्भीर स्त्री-विरोधी अपराधों के आरोप हैं। अगर हम पिछले कुछ मामलों पर ही नज़र दौड़ायें तो पता चलता है कि भाजपा सरकार की कथनी और करनी में ज़मीन-आसमान का फ़र्क है।

– उत्तराखण्ड में भाजपा नेता विनोद आर्य का बेटा पुलकित आर्य अपने रिज़ॉर्ट की कर्मचारी युवती अंकिता पर अनैतिक काम करने पर दवाब बनाता है और युवती द्वारा काम न किये जाने पर उसकी हत्या कर देता है। विनोद आर्य का रिज़ॉर्ट कई बड़े भाजपा नेताओं-मन्त्रियों के लिए अय्याशी का अड्डा बना रहा है, ऐसा कई रिपोर्टों ने बताया है।

– पश्चिमी बंगाल, जलपाईगुड़ी में बाल तस्करी के आरोप में भाजपा नेत्री जूही चौधरी गिरफ़्तार की गयी और मामले में भाजपा के नेताओं कैलाश विजयवर्गीय और रूपा गांगुली के नाम भी जुड़े।

– उत्तरप्रदेश में भाजपा विधायक कुलदीप सिंह सेंगर बलात्कार और हत्या के मामले में दोषी क़रार।

– झारखण्ड के राँची से भाजपा नेत्री और महिला विंग की राष्ट्रीय कार्यसमिति की सदस्या सीमा पात्रा ने अपनी नौकरानी को आठ साल तक बन्धक बनाया, उसके दाँत तोड़े और जीभ से मल-मूत्र तक चटवाया!

– मेघालय का भाजपा राज्य उपाध्यक्ष बर्नार्ड मराक छोटे बच्चों और महिलाओं को बन्धक बनाकर वेश्यालय चलाने में संलग्न पाया गया।

– छत्तीसगढ़, राजनान्दगाँव में शराब तस्करी के आरोप में भाजपा नेता जयराम दुबे गिरफ़्तार।

ये तो बस चन्द उदाहरण हैं! भाजपा के असल चाल-चरित्र-चेहरे की एक-एक कहानी लिखी जाये तो दिन छोटा पड़ सकता है। ऐसा क्यों होता है कि “संस्कार” और “प्राचीन भारतीय हिन्दू संस्कृति” की रट लगाने वाले ये लोग ही कुसंस्कारों की गटरगंगा में सबसे अधिक गोते लगाते पाये जाते हैं? “संसद-विधानसभा की मर्यादा”, “ईमानदारी” और

(पेज 12 पर जारी)

मार्क्सवादी इतिहासकार डी.डी. कोसाम्बी के स्मृति दिवस (29 जून) पर

मज़दूरों को इतिहास क्यों जानना चाहिए?

● वारुणी

दामोदर धर्मानन्द कोसाम्बी भारत के इतिहास की ऐतिहासिक भौतिकवादी व्याख्या करने वाले पहले इतिहासकार थे। उनका जीवन बहुत छोटा रहा। महज़ 58 साल की उम्र में उनकी मृत्यु हो गयी लेकिन उन्होंने समाज और ज्ञान-विज्ञान की दुनिया को महान योगदान दिये। आज एक ऐसे दौर में जब फ़ासीवादी ताक़तों द्वारा इतिहास के विकृतिकरण की मुहिम चलायी जा रही है, जब आरएसएस "हिन्दू राष्ट्र" (यानी, मेहतनकश वर्गों पर धन्नासेठों की तानाशाही वाली व्यवस्था) के निर्माण की अपनी वैचारिक परियोजना के लिए इतिहास को तोड़ मरोड़ कर जनता के समक्ष प्रस्तुत कर रहा है, ऐसे दौर में डी.डी. कोसाम्बी जैसे इतिहासकार को याद करने की प्रासंगिकता पहले से कहीं ज़्यादा हो जाती है।

फ़ासीवादी ताक़तें हमेशा इतिहास और विज्ञान को अपना पहला निशाना बनाती है क्योंकि वे तार्किकता, वैज्ञानिकता और जनवादी मूल्यों को स्थापित करने का काम करते हैं। आज इन दोनों ही क्षेत्रों पर फ़ासीवादियों का हमला जारी है और मिथकों को सामान्य बोध के रूप में स्थापित किया जा रहा है। यह हमला असल में जनता की विरासत पर हमला है। बुर्जुआ वर्ग की नग्न तानाशाही लागू करने वाले फ़ासीवादी हुक्मरानों द्वारा इतिहास पर इस हमले का प्रतिकार करना आज सर्वहारा वर्ग का ही कार्यभार है। जो लोग मज़दूर वर्ग को महज़ वेतन-भत्ते, कार्यस्थिति तथा जीवनस्थिति सम्बन्धी लड़ाई तक सीमित करते हैं, असल में वह मज़दूर वर्ग को एक राजनीतिक वर्ग के रूप में संगठित होने से रोकते हैं। राजनीतिक वर्ग यानी वह वर्ग जो अपनी राज्यसत्ता, अपना शासन स्थापित करने के लक्ष्य को पूरा करने के प्रति सचेत और संगठित होता है। आज यह सर्वहारा वर्ग की पार्टी का ही काम है कि मज़दूरों को एक राजनीतिक वर्ग के रूप में संगठित करने के लिए उनके बीच हर उस मुद्दे को उठाये जो कि राजनीतिक महत्त्व रखते हैं।

आज हमें समझने की ज़रूरत है कि अपने इतिहास से कटकर हम अपने भविष्य का निर्माण नहीं कर सकते। असल में हर वर्ग अपनी विरासत को जिलाये रखता है ताकि उससे सीख सके और अपने भविष्य को गढ़ सके। आज मज़दूर वर्ग भी अपने देश काल के इतिहास से अनजान नहीं रह सकता। यदि वह भविष्य का रचयिता है तो उसे अपने अतीत से भी आलोचनात्मक सम्बन्ध रखना होगा।

इतिहास लेखन भी वर्ग संघर्ष का ही क्षेत्र है। इतिहास लेखन के ऊपर निश्चित वर्ग के दृष्टिकोण व विचारधारा का प्रभाव होता है। आज पूँजीपति वर्ग का नज़रिया जनता के बीच प्रभावशाली है। आज जनता को पूँजीवादी विचारधारा की ज़द से बाहर निकालने का कार्यभार भी सर्वहारा वर्ग और उसके अगुवा दस्ते का है। आज ज़रूरत है अतीत की पारम्परिक बुर्जुआ धारणा को चुनौती देते हुए जनता के पक्ष से लिखे गए इतिहास को आत्मसात करना और उससे सीखना। डी.डी. कोसाम्बी भी उन्हीं इतिहासकारों में आते हैं जिन्होंने जनता का पक्ष चुना। उनकी प्रतिबद्धता हमेशा से उस शोषित-उत्पीड़ित वर्ग के प्रति थी जिसने कि उन्हें वर्तमान को ध्यान में रखते हुए अतीत का विश्लेषण करने की पहुँच प्रदान की।

डी.डी. कोसाम्बी वह नाम हैं जिन्होंने प्राचीन भारत के ऐतिहासिक भौतिकवादी इतिहास लेखन की नींव रखी। उससे पहले भारत का इतिहास लेखन मात्र घटनाओं के विवरण, राजाओं के क्रम निर्धारण, राजवंशों की स्थापना और साम्राज्य सीमा, प्रशासन, दरबारी लेखन और साम्राज्यवादियों के प्रचार और उसके ख़िलाफ़ किये गये राष्ट्रवादियों के प्रति-प्रचार तक ही सीमित था। भारत के प्राचीन इतिहास का तथ्यों के आधार पर एक वैज्ञानिक विश्लेषण करने का काम पहली बार कोसाम्बी ने किया। पारम्परिक अर्थों में इतिहासकार नहीं होने के बावजूद भी उन्होंने भारत के इतिहास लेखन की पद्धति पर एक गहरा व स्थायी प्रभाव छोड़ा। उन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवादी नज़रिये से भारत के इतिहास का वैज्ञानिक विश्लेषण पेश किया। उन्होंने मार्क्सवाद को एक जड़सूत्रवादी सिद्धान्त बनाये जाने का विरोध किया और मार्क्सवाद की वैज्ञानिक पहुँच और पद्धति को विश्लेषण के उपकरण के रूप में इस्तेमाल में लाया। यही कारण था कि वे भारत के इतिहास का एक वैज्ञानिक विश्लेषण पेश कर सके।

डी.डी. कोसाम्बी असल में पेशे के बतौर एक इतिहासकार नहीं थे बल्कि गणितज्ञ थे, लेकिन गणित के अलावा सांख्यिकी, भाषाशास्त्र, इतिहास और आनुवंशिकी में उनका बड़ा योगदान रहा है। यहाँ हम सिर्फ़ उनके इतिहास के क्षेत्र में दिये गये योगदानों पर चर्चा करेंगे। उन्होंने भारतीय इतिहास और संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर व्यापक शोध किया, जो 1940 के दशक की शुरुआत से सौ से अधिक लेखों के रूप में सामने आया। बाद में उन्होंने तीन पुस्तकों में अपने प्रमुख विश्लेषण को सुदृढ़ किया: 'भारतीय इतिहास के अध्ययन का एक परिचय' (1956), 'मिथक और यथार्थ' (1962) और 'प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता: एक ऐतिहासिक रूपरेखा' (1965)। उनकी ये रचनाएँ भारतीय अतीत के औपनिवेशिक वर्चस्व और राष्ट्रवादी महिमामण्डन पर मज़बूत चोट करती हैं।

अपनी किताब 'भारतीय इतिहास के अध्ययन का एक परिचय' (1956) में उन्होंने दर्शाया कि कैसे उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच के अन्तरविरोध ने समाज को आगे विकसित किया। उत्पादन ही वह बुनियादी व्यवहारिक कारवाई है जो बाक़ी अन्य कारवाइयों को निश्चित करती है। उत्पादन के लिए संघर्ष के दौरान मनुष्य प्रकृति से एक निश्चित सम्बन्ध स्थापित करता है और चूँकि उत्पादन की कारवाई एक सामूहिक करवाई है तो इस प्रक्रिया में मनुष्य आपस में भी उत्पादक शक्तियों के विकास के अनुसार निश्चित सम्बन्ध स्थापित करते हैं। मार्क्सवाद की इस बुनियादी समझदारी को आधार बनाते हुए कोसाम्बी ने भारतीय इतिहास को व्यख्यायित किया। कोसाम्बी मार्क्स की 'राजनीतिक अर्थशात्र की समालोचना में योगदान' क़िताब की प्रस्तावना से काफ़ी प्रभावित थे जिसे उन्होंने कई जगह उद्धृत किया है। अपनी लेखनी में उन्होंने साफ़ रूप से दिखाया कि किस

(पेज 17 पर जारी)

'द केरला स्टोरी': संघी प्रचार तन्त्र की झूठ-फ़ैक्ट्री से निकली एक और फ़िल्म

(पेज 11 से आगे)

पेश किया गया है। इस फ़िल्म के एक दृश्य में दूसरी किरदार «लव जिहाद» का «सच» उजागर होने के बाद अपने कम्युनिस्ट पिता से कहती है, «ये विदेशी आइडियोलॉजी कम्युनिज़्म के बारे में आप मुझे सिखाते गये, लेकिन कभी हमारा रिलीजन, हमारे ट्रेडिशन के बारे में तो बताया ही नहीं।» इस दृश्य के ज़रिए निर्देशक महोदय हिन्दू धर्म को श्रेष्ठ धर्म के तौर पर दिखाने की कोशिश की है और क्रान्ति के विज्ञान यानी कम्युनिज़्म को महज़ एक विदेशी विचारधारा क़रार देकर ख़ारिज करने की कोशिश की है। और ऐसी कोशिशें बीच-बीच में कई जगहों पर निर्देशक महोदय कर बैठते हैं। फ़िल्म के अन्त की ओर बढ़ते ही निर्देशक महोदय फ़ासीवादी राजनीति का वैधीकरण ढूँढने निकल जाते हैं। और अन्त के दृश्य में जहाँ तीसरी किरदार पुलिस के सामने गुस्से से बेबुनियाद और फर्जी आँकड़ों को रखकर «लव जिहाद» पर लगाम लगाने की बात करती है, और पुलिस अफ़सर बड़े भोलेपन से जवाब देता है, «आपकी बात ठीक है, पर बिना एविडेंस के हम दो एडल्ट्स की लाइफ़ में कैसे इण्टरफ़ेयर कर सकते हैं?» इस वाक्य में ही इसका जवाब छिपा है। जिस परिदृश्य में इस दृश्य को रचा गया है, वह दर्शक से यह अपील करवाती है कि राज्यसत्ता को «लव जिहाद» के ख़िलाफ़ सख़्त क़ानून बनाना चाहिए, जो इन घटनाओं पर रोक लगाये। इस रूप में फ़ासीवादी सरकार के दमनकारी क़ानून को यह फ़िल्म वैधता प्रदान करने का काम करती है।

कुल मिलाकर बात कहें तो इस फ़िल्म के ज़रिए फ़ासीवाद अपने प्रचार तंत्र के जाल फ़ैला रहा है। इस फ़िल्म की तमाम घटिया, बेबुनियादी तर्कों के बावजूद यह एक झूठ, जिसे पहले कई बार बोला जा चुका है, को स्थापित करने का काम करती है, और उसे लोगों में कॉमन सेंस के रूप में बिठाने का काम करती है। उसके बाद लोग इन झूठों की पड़ताल किये बग़ैर इसे सच मान बैठते हैं और फ़ासीवादी राजनीति के जाल में जा फँसते हैं। यह कोई पहली फ़िल्म नहीं है जो मुसलमानों के ख़िलाफ़ प्रचार तंत्र के रूप में बनी हो। अभी लगातार ही उन फ़िल्मों को सचेतन तौर पर बढ़ावा दिया जा रहा है, जो मुस्लिम-विरोधी हों, उन्हें किसी न किसी रूप में जनता का दुश्मन साबित करती हों, चाहे वह इतिहास का मिथकीकरण करके किया जाये या फिर झूठे प्रचारों के ज़रिए किया जाये। 'कश्मीर फ़ाइल्स' समेत अभी कई ऐसी फ़िल्में इस फ़ेहरिस्त का हिस्सा हैं। यह समझने की ज़रूरत है कि हर दौर में फ़ासीवाद को एक 'अन्य' या एक 'पराये' समुदाय की छवि स्थपित करने की ज़रूरत होती है, जिसके ऊपर जनता की तमाम समस्याओं का ठीकरा फोड़ा जा सके और उसे दुश्मन बनाकर पेश किया जा सके ताकि बेरोज़गारी, महँगाई से परेशान जनता का ध्यान इन तकलीफ़ों के लिए ज़िम्मेदार मुनाफ़ाखोर व्यवस्था पर न जाये और वह अन्य समुदायों या धर्मों के अपने ही भाइयों-बहनों को दुश्मन मान बैठे। जर्मनी में यह 'अन्य' यहूदी थे, भारत में 'मुसलमान'। आज हमें इनकी इस साज़िश को समझना होगा। यह "लव जिहाद" और इस प्रकार के तमाम मुद्दे केवल जनता को बाँटने की साज़िश होते हैं। इनका सच तो तभी नंगा हो जाता है, जब भाजपा के नेता सुब्रह्मण्यम स्वामी की बेटी एक मुस्लिम लड़के से शादी करती है, भाजपा का एक मुस्लिम नेता मुख्तार अब्बास नक़वी को एक हिन्दू महिला से शादी करता है। क्या भाजपा के नेताओं के लिए "लव जिहाद" मान्य नहीं है? क्या यह सिर्फ़ आम जनता के बेटे-बेटियों के लिए है? हमें यह समझना होगा इस तरह की फ़िल्में असल में मज़दूर वर्ग को बाँटने की साज़िश हैं। ताकि हम आपस में लड़कर एक-दूसरे का सिर-फुटौव्वल करें और यह सरकार पूँजीपतियों की सेवा के लिए हमारे ख़ून का आख़िरी क़तरा तक चूस ले। अगर हमें यह नामंज़ूर है तो इस प्रकार की वाहियात और झूठे प्रचार के लिए बनी फ़ासीवादी फिल्मों के प्रभाव में हमें ग़लती से भी नहीं आना चाहिए और इनका बहिष्कार करना चाहिए।

'द गुजरात स्टोरी' : भाजपा के शासन में गुजरात में 41 हज़ार महिलाएँ लापता!

"राष्ट्रवाद" का भ्रमजाल फैलाने वाले इन हिटलर-मुसोलिनी की सन्तानों का असल चेहरा बेहद ही अश्लील और घृणास्पद है। फ़ासीवादियों का बस एक ही काम होता है शुचिता और संस्कारों की जुमलेबाज़ी कर अपनी गन्दगी छिपाना और मालिकों-पूँजीपतियों की सेवा करना। भारतीय फ़ासीवादियों के "संस्कारी" चेहरे के पीछे की असलियत को भी इससे समझा जा सकता है। जनता के असल मुद्दों से ध्यान भटकाने के लिए ही ये हत्यारे, बलात्कारी, भ्रष्टाचारी भाजपा और संघ परिवार नैतिकता और संस्कार का चोगा ओढ़ते है जिसकी असलियत भी किसी से छुपी नहीं है। इनकी चिकनी-चुपड़ी बातों पर यक़ीन करके इनके संस्कारों और शुचिता का भरोसा कोई मूर्ख ही कर सकता है।

संस्कारों का इनका सारा ढिंढोरा इनके चरित्र पर पड़े बदनुमा दाग़ों को छिपाने के लिए होता है। इसलिए देश में कहीं भी आज महिलाएँ सुरक्षित नहीं हैं। भारत इन्हीं भाजपाइयों के कारण दुनिया में महिलाओं के लिये सबसे असुरक्षित देश है। आज बिल्कुल बेटियों को बचाने की ज़रूरत है लेकिन इन भाजपाइयों से! "बेटी बचाओ" इनका नारा नहीं चेतावनी थी, यह देश की जनता बाद में समझ पायी। हर प्रकार के फ़ासीवादियों का बस एक ही काम होता है और वह है जनता को शुचिता और संस्कार का पाठ पढ़ाते हुए उसे फ़र्ज़ी मुद्दों के आधार पर बाँटकर आपस में लड़ाना और अपने पूँजीपति आक़ाओं की सेवा करना। इटली, जर्मनी ही नहीं बल्कि हमारे देश के फ़ासिस्ट भी आज यही कर रहे हैं। हमें आज इन भाजपाईयों और संघ परिवार के लोगों की असलियत को समझना होगा और इनके चाल-चरित्र-चेहरे को बेनक़ाब करना होगा और महिला सुरक्षा के सभी दावों की हक़ीक़त को लोगो के बीच ले जाकर इनका पर्दाफ़ाश करना होगा।

क्रान्तिकारी मज़दूर शिक्षणमाला – 11

अध्याय-10 *(परिशिष्ट)*

स्वर्ण असमर्थित कागज़ी मुद्रा (फियेट मुद्रा) के विशिष्ट मार्क्सवादी नियम

• अभिनव

हमने देखा कि किस प्रकार मार्क्स ने एक माल उत्पादक व्यवस्था में मुद्रा के उद्भव और विकास और उसे संचालित करने वाले नियमों को खोजा। मार्क्स ने दिखलाया कि मुद्रा का उद्भव माल उत्पादन के विकसित होने के साथ होता है। जैसे-जैसे अधिकांश श्रम के उत्पाद माल बनते जाते हैं वैसे-वैसे उनका विनिमय जटिल होता जाता है। उपयोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य का अन्तरविरोध तीखा होता जाता है। इसी प्रक्रिया में कोई एक विशिष्ट माल (जो आम तौर पर समाज के बहुलांश के लिए उपयोगी होता है) एक सार्वभौमिक समतुल्य की भूमिका ग्रहण करता जाता है। हमने इसी अध्याय में देखा कि दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में माल उत्पादन के विकास की प्रक्रिया में यह भूमिका कभी ढोर-डंगर ने, कभी तम्बाकू ने, कभी कौड़ियों ने, कभी नमक ने, तो कभी किसी अन्य माल ने निभायी। इसके साथ, मूल्य के मुद्रा-रूप का विकास हुआ जो स्वयं आगे कई मंज़िलों से होता हुआ, कीमती धातुओं को मुद्रा-माल के रूप में अपनाये जाने के साथ मुकम्मिल हुआ।

हमने यह भी देखा कि ऐसा क्यों हुआ। इसकी वजह यह थी कि सोना और चाँदी टिकाऊ थे, उन्हें कई छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित किया जा सकता था, वे पूरी दुनिया में एकसमान गुणवत्ता में मिलते हैं। हमने देखा कि मुद्रा का संचरण मुद्रा के हर रूप का विभौतिकीकरण (dematerialization) करता है। मिसाल के तौर पर, पहले एक दिनेरियम (d.) ब्रिटेन में 1/240 आउंस सोने का प्रतिनिधित्व करता था। लेकिन मुद्रा के संचरण की प्रक्रिया में यह एक दिनेरियम का सिक्का घिसता जाता है और पहले उसका जो वज़न 1/240 आउंस सोने का प्रतिनिधित्व करता था, वह अब उतना नहीं रह जाता है और उसमें सोने/चाँदी की अन्तर्वस्तु या मात्रा घट जाती है। लेकिन फिर भी मालों के संचरण के माध्यम के रूप में वह पहले के समान 1/240 आउंस सोने के मूल्य वाले सिक्के रूप में ही संचरित होता है। इसकी अगली मंज़िल यह होती है कि सोने या चाँदी के सिक्कों के प्रतिनिधि के तौर पर अन्य सस्ती धातुओं के सिक्के प्रचलन में आते हैं। और अन्ततः, चूँकि सोने या चाँदी के सिक्कों को स्वयं उपस्थित होकर मालों के संचरण के माध्यम की भूमिका नहीं निभानी होती है इसलिए यह कार्य कागज़ी मुद्रा द्वारा भी सम्भव हो जाता है, बशर्ते कि उस कागज़ी मुद्रा को राज्यसत्ता द्वारा वैधीकरण और इस प्रकार सामाजिक मान्यता प्राप्त हो। कहने की ज़रूरत नहीं कि मुद्रा को पैदा करने का काम राज्यसत्ता ने नहीं किया था, हालाँकि विकास की एक निश्चित मंज़िल पर उसने इसे अपनाया, कीमत के मानक को तय करने और इसे वैधीकरण प्रदान करने की भूमिका अपनायी। मुद्रा तो माल उत्पादन व विनिमय के विकास की प्रक्रिया में स्वाभाविक तौर पर पैदा होती है। मुद्रा के इतिहास में राज्यसत्ता का हस्तक्षेप काफ़ी बाद में ही होता है।

यहाँ तक की प्रक्रिया के बारे में हमने मौजूदा अध्याय में चर्चा की थी। यहाँ तक हम अभी स्वर्ण-समर्थित मूल्य के प्रतीकों या स्वर्ण-मुद्रा के प्रतिनिधि रूपों (यानी, अन्य धातुओं के सिक्के, परिवर्तनीय कागज़ी मुद्रा आदि) की बात कर रहे हैं। शुद्ध रूप से फियेट मुद्रा की, यानी ऐसी कागज़ी मुद्रा जो स्वर्ण से समर्थित न हो और जहाँ सोने ने औपचारिक और आधिकारिक तौर पर मूल्य के माप की भूमिका निभाना बन्द कर दिया हो, चर्चा हम मौजूदा परिशिष्ट में आगे करेंगे।

स्वर्ण-समर्थित कागज़ी मुद्रा भी दो प्रकार की हो सकती है: सोने में **परिवर्तनीय (convertible)** व सोने में **"अपरिवर्तनीय" (inconvertible)**।

सोने में परिवर्तनीय कागज़ी मुद्रा वह होती है जिसका राज्यसत्ता द्वारा निर्धारित विनिमय दर पर किसी मौद्रिक प्राधिकार (जैसे कि केन्द्रीय बैंक, आदि) के दफ्तर की खिड़की पर सोने के साथ विनिमय हो सकता है। ब्रिटेन में 1816 में पहली बार स्वर्ण मुद्रा के परिवर्तनीय प्रतीकों को सरकार ने संचरण में डाला। अगले 60 वर्षों में पहले फ्रांस और फिर जर्मनी तथा अमेरिका में स्वर्ण मुद्रा के परिवर्तनीय मौद्रिक प्रतीकों को राज्यसत्ताओं द्वारा संचरण में डाला गया। इसके बाद, जो देश पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के युग में प्रवेश करते गये, वैसे-वैसे परिवर्तनीय कागज़ी मुद्रा का प्रचलन उनमें हुआ।

एक निश्चित विनिमय दर (fixed exchange rate) पर इन प्रतीकों का सोने के साथ विनिमय होने का क्या अर्थ था? यानी, यदि राज्यसत्ता ने मुद्रा, मसलन, रुपये के मुद्रा-माल, यानी सोने या चाँदी, के साथ विनिमय की दर ऐसे तय की है कि 1000 रुपये का विनिमय 1 ग्राम सोने के साथ होगा तो कोई भी व्यक्ति जिसके पास कागज़ी नोटों में 10,000 रुपये होंगे वह सरकार के मौद्रिक प्राधिकार के दफ्तर की खिड़की पर 10 ग्राम सोना प्राप्त कर सकता है। लेकिन तय विनिमय दर का अर्थ क्या है? क्या वह कभी नहीं बदलती? नहीं। इस निर्धारित दर का यह अर्थ नहीं होता है कि राज्यसत्ता इसे कभी परिवर्तित नहीं करती है। दरअसल, सोने के उत्पादन के क्षेत्र में उत्पादकता और आम तौर पर समूची अर्थव्यवस्था की उत्पादकता के बदलते रिश्तों के अनुसार एक पूँजीवादी राज्यसत्ता उसमें नियमित अन्तरालों पर परिवर्तन करती ही है। यानी, जब सोने में परिवर्तनीय कागज़ी मुद्रा का दौर था तो भी राज्यसत्ता द्वारा मुद्रा तथा मुद्रा-माल में विनिमय की निर्धारित दर का यह अर्थ नहीं था कि वह हमेशा के लिए निर्धारित थी और अपरिवर्तनीय थी। इसलिए 'निर्धारित विनिमय दर' यहाँ एक भ्रामक शब्द है। उस दौर में भी मुद्रा तथा मुद्रा-माल के विनिमय की दर आंशिक तौर पर लचीली ही होती थी क्योंकि राज्यसत्ता समय-समय पर उसमें बदलाव करती थी। इसलिए तय विनिमय दर की जगह परिवर्तनीय कागज़ी मुद्रा के दौर में भी **आंशिक तौर पर लचीली विनिमय दर (partially-flexible exchange rate)** की बात करना ज़्यादा सटीक होगा। बस एक ही ख़ास बात थी: उस समय चूँकि सोने का मुद्रा-दाम (monetary price of gold) या कीमत के मानक, यानी मुद्रा के साथ सोने के विनिमय की दर राज्यसत्ता द्वारा एक निश्चित कालखण्ड के लिए निर्धारित होती थी, इसलिए सोने का उत्पादन करने वाला क्षेत्र मुनाफ़े के औसतीकरण की प्रक्रिया में भागीदारी नहीं करता था, बल्कि अन्य सभी उत्पादन के क्षेत्रों में मुनाफ़े की दर प्रतिस्पर्द्धा द्वारा सोने के उत्पादन के क्षेत्र के मुनाफ़े की दर के अनुसार समायोजित (adjust) होती थी। इसके बारे में हम आगे के अध्यायों में विस्तार से जानेंगे, अभी बस संक्षेप में समझ लेते हैं।

मान लें कि सोने और मुद्रा की सरकार द्वारा एक निश्चित विनिमय दर तय की जाती है। ऐसे में, सोने की बाज़ार कीमतें सोने के उत्पादन के क्षेत्र में मौजूद मुनाफ़े की दर और बाकी मालों के उत्पादन के क्षेत्रों की औसत मुनाफ़े की दर में अन्तर के परिणामस्वरूप स्वत: बदल नहीं सकती है क्योंकि सोने का मुद्रा-दाम दिये गये कालखण्ड में तय है। इसलिए सोने के उत्पादन के क्षेत्र की मुनाफ़े की दर शेष अर्थव्यवस्था की औसत मुनाफ़े की दर के साथ कीमतों में परिवर्तन के ज़रिये समतुलित नहीं हो सकती है, बल्कि केवल सोने के उत्पादन की लागतों में परिवर्तन के ज़रिये समतुलित हो सकती है। यह तभी हो सकता है जबकि अन्य मालों की कीमतों में परिवर्तन हो क्योंकि सोने की बाज़ार कीमत राज्यसत्ता द्वारा एक निश्चित स्तर पर फिक्स्ड है। मान लें कि सोने के अतिरिक्त एक ही अन्य माल है, कपास। मान लें कि दोनों ही माल किसी हद तक एक-दूसरे के उत्पादन की प्रक्रिया में उत्पादन के साधन के रूप में इस्तेमाल होते हैं। आरम्भिक स्थिति में, मान लें कि सोने के उत्पादन क्षेत्र और कपास के उत्पादन क्षेत्र में मुनाफ़े की दरें बराबर हैं। आम तौर पर कीमतों में बढ़ोत्तरी होती है तो ऐसे में कपास की कीमतें बढ़ेंगी जबकि सोने की बाज़ार कीमतों पर भी बढ़ने का दबाव पैदा होगा, लेकिन वे बढ़ नहीं सकती हैं क्योंकि मुद्रा (डॉलर, पाउण्ड, रुपया आदि) के साथ मुद्रा-माल यानी सोने की विनिमय दर फिक्स्ड है। कीमत की बढ़ोत्तरी से कपास के उत्पादन क्षेत्र में मुनाफ़े की दर में भी बढ़ोत्तरी होगी जबकि सोने के उत्पादन की लागतें बढ़ेंगी (क्योंकि कपास उत्पादन के साधन के तौर पर सोने के उत्पादन में लगता है) और सोने के उत्पादन क्षेत्र की मुनाफ़े की दर गिरेगी। ऐसे में, पूँजी का प्रवाह सोने के उत्पादन के क्षेत्र से दूसरे माल यानी कपास के उत्पादन क्षेत्र में होगा, जहाँ आपूर्ति बढ़ेगी और नतीजतन कीमतें गिरेंगी। इसके साथ सोने के उत्पादन के क्षेत्र में लागतें घटेंगी और मुनाफ़े की दर बढ़ेगी, जबकि उसकी कीमत उसी स्तर पर रहेगी क्योंकि वह राजकीय रूप से फिक्स्ड है। यह प्रक्रिया कपास की कीमत को फिर से एक ऐसे स्तर पर लायेगी जिससे कि एक उथल-पुथल भरी प्रक्रिया में दोनों क्षेत्रों में मुनाफ़े की दरों का औसतीकरण होगा। इस प्रकार, सोने द्वारा समर्थित परिवर्तनीय कागज़ी मुद्रा के दौर में भी तमाम मालों की सापेक्षिक कीमतें (relative prices) हमेशा सामाजिक मूल्य और उसके इर्द-गिर्द मण्डराने वाली उत्पादन की कीमतों से ही तय होंगी, जो कि मुनाफ़े की दरों के औसतीकरण से पैदा होती हैं।

हम जानते हैं कि हमने अभी तक मुनाफ़े, मुनाफ़े की दर, मुनाफ़े की दरों के औसतीकरण की श्रेणियों के बारे में बात नहीं की है। आगे जब हम इन श्रेणियों पर विस्तार से चर्चा कर लेंगे, तो आप वापस लौटकर इस परिशिष्ट को दोबारा पढ़ सकते हैं। अभी हम आगे बढ़ते हैं।

पूँजीवादी उत्पादन में एक ऐसा दौर अपरिहार्य रूप से आता है जब उत्पादन और पूँजी का संचय एक ऐसी मंज़िल पर पहुँच जाता है जब सोने की मुद्रा या सोने में परिवर्तनीय अन्य धातुओं के सिक्कों या कागज़ी मुद्रा द्वारा उपस्थित सीमा एक बाधा बन जाती है। वजह यह है कि राज्यसत्ता व उसके मौद्रिक प्राधिकार अपने स्वर्ण रिज़र्व से बहुत अधिक मात्रा में अन्य परिवर्तनीय मौद्रिक प्रतीकों जैसे कि कागज़ी मुद्रा को जारी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि राज्यसत्ता इन प्रतीकों का वास्तविक सोने के साथ निश्चित विनिमय दर पर विनिमय की गारण्टी देती है, जो अगर पूरी न हो तो समाज में इन मौद्रिक प्रतीकों को स्वीकार ही नहीं किया जायेगा। पूँजीवादी समाज में होने वाले कुल उत्पादन के श्रम-मूल्य के बराबर श्रम-मूल्य रखने वाली सोने की मात्रा का उत्पादन जारी रखना असम्भव है। जैसा कि हमने ऊपर ज़िक्र किया, परिवर्तनीय कागज़ी मुद्रा के दौर में केन्द्रीय बैंक या राज्यसत्ता का मौद्रिक प्राधिकार एक सीमा तक ही कागज़ी मुद्रा जारी कर सकता है, जो कि उसके स्वर्ण भण्डार पर निर्भर करती है। यह धात्विक सीमा पूँजीवादी उत्पादन में अनिवार्यत: बाधा बनती ही है। मार्क्स ने स्पष्ट तौर पर रिकार्डो द्वारा कागज़ी नोटों के संचरण को सैद्धान्तिक तौर पर बैंकों के स्वर्ण भण्डार तक सीमित करने की आलोचना की थी। साथ ही, मार्क्स ने यह भी कहा था कि एक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में कागज़ी नोटों का बैंक के स्वर्ण भण्डार से स्वतन्त्र होने का यह अर्थ नहीं है कि बैंक मनमाने तरीके से किसी भी मात्रा में कागज़ी नोटों को जारी कर सकता है। यह मात्रा वास्तव में दो कारकों पर निर्भर करती है: पहला, मालों की कुल कीमत, मुद्रा का वेग और मुद्रा का मूल्य तथा दूसरा, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में नकदी की माँग जो मुख्य तौर पर निवेश करने वाले पूँजीपतियों से आती है। अन्य उपभोक्ताओं से पैदा होने वाली प्रभावी माँग मूलत: और मुख्यत: पूँजीपतियों द्वारा किये जाने वाले निवेश का ही एक प्रकार्य होती है, इसलिए उसकी अलग से गणना करना आवश्यक नहीं है।

बहरहाल, चूँकि विस्तारित पुनरुत्पादन पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का आम नियम है इसलिए मालों के संचरण और शुद्ध मुनाफ़े के मुद्रा-रूप में वास्तवीकरण और मुनाफ़े की अपेक्षाओं के आधार पर मुख्यत: निवेश हेतु क्रेडिट की माँग मुद्रा की मात्रा को तय करता है। ज़ाहिर है, यह कोई पहले से दी गयी ज्ञात मात्रा नहीं होती है, बल्कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में एक उथल-पुथल भरी प्रक्रिया में निर्धारित होती रहती है और जारी मुद्रा इस वांछनीय मात्रा से अधिक या कम मात्रा में जारी हुई है, यह बाद में ही पता चल सकता है। आम तौर पर, किसी भी दिये गये मौके पर संचरण व निवेश की आवश्यकताओं की तुलना में हर प्रकार की मुद्रा कभी ज़्यादा तो कभी कम होती है और एक प्रक्रिया के तौर पर समतुलित होती रहती है।

पूँजीवादी उत्पादन पद्धति की इस गतिकी के कारण सोने में परिवर्तनीय कागज़ी मुद्रा से सोने में "अपरिवर्तनीय" कागज़ी मुद्रा में संक्रमण अपरिहार्य होता है। 'अपरिवर्तनीय' शब्द भ्रामक है क्योंकि किसी भी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा अगर मालों (मुद्रा-माल समेत) में परिवर्तनीय नहीं है, तो वह मुद्रा की भूमिका निभा ही नहीं सकती है। तो फिर परिवर्तनीय और "अपरिवर्तनीय" कागज़ी मुद्रा में बुनियादी फर्क क्या है? फ़र्क सिर्फ इतना है कि "अपरिवर्तनीय" कागज़ी मुद्रा के मामले में राज्यसत्ता अपने मौद्रिक प्राधिकार, यानी केन्द्रीय बैंक, की खिड़की पर मुद्रा-माल यानी

(पेज 14 पर जारी)

स्वर्ण असमर्थित कागज़ी मुद्रा (फियेट मुद्रा) के विशिष्ट मार्क्सवादी नियम

(पेज 13 से आगे)

सोने का विनिमय किसी फिक्स्ड विनिमय दर पर मुद्रा (यानी रुपया/डॉलर/पाउण्ड आदि) से नहीं करती है। सोने की बाज़ार कीमत अब फिक्स्ड नहीं रहती बल्कि कागज़ी मुद्रा में बाज़ार के उतार-चढ़ाव के मातहत होती है। अब सोने के उत्पादन का क्षेत्र भी मुनाफ़े के औसतीकरण में भागीदारी करता है और उसकी बाज़ार कीमत मुनाफ़े के औसतीकरण से निर्मित होने वाली उत्पादन की कीमतों के इर्द-गिर्द होती है। यानी, अन्तर यह हुआ कि अब सोने का विनिमय कागज़ी मुद्रा या स्वर्ण मुद्रा के अन्य प्रतिनिधियों के साथ सरकार द्वारा निर्धारित व समय-समय पर बदली जाने वाली आंशिक रूप से लचीली विनिमय दर पर नहीं बल्कि **पूर्ण रूप से लचीली विनिमय दर (flexible exchange rate)** के आधार पर होता है। लेकिन स्वर्ण मुद्रा अभी भी *आधिकारिक और औपचारिक तौर पर* मूल्य की माप और कीमतों का मानक होती है और "अपरिवर्तनीय" कागज़ी मुद्रा जारी की गयी मात्रा के अनुसार औपचारिक तौर पर सोने की किसी मात्रा की नुमाइन्दगी करती है। ज़ाहिर है, ऐसे में सभी मालों की दो कीमतें बाज़ार में प्रभावी होती हैं: स्वर्ण मुद्रा में कीमत और कागज़ी मुद्रा में कीमत। यदि राज्यसत्ता कागज़ी मुद्रा को पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मालों के संचरण व पूँजी की माँग की तुलना में अधिक मात्रा में जारी करती है तो स्वर्ण मुद्रा की तुलना में कागज़ी मुद्रा का अवमूल्यन होता है। लेकिन, जैसा कि स्वयं मार्क्स ने बताया था, इससे बस वही फ़र्क पड़ता है जो राज्यसत्ता द्वारा कीमतों के मानक यानी मुद्रा व मुद्रा-माल के विनिमय की दर को समय-समय पर बदलने पर पड़ता था: यानी, आप 1/240 आउंस सोने को 1 दिनेरियम कहने की बजाय अब 2 दिनेरियम कहते हैं। साथ ही, इस परिवर्तन के कारण सभी मालों की आपसी सापेक्षिक कीमत (relative price) पर भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि कागज़ी मुद्रा आवश्यकता से अधिक जारी की जाती है तो सभी मालों की निरपेक्ष कीमत (absolute price) समान दर से बढ़ती है लेकिन उनकी सापेक्षिक कीमत अभी भी अन्ततः सामाजिक मूल्य से ही निर्धारित होती है। मिसाल के तौर पर, यदि 1/240 आउंस सोने के उत्पादन में 5 घण्टे लगते हैं और अब सोने की इस मात्रा को कागज़ी मुद्रा में 1 दिनेरियम नहीं बल्कि 2 दिनेरियम अभिव्यक्त करता है, तो अब 5 घण्टे के सामाजिक श्रम का मौद्रिक समतुल्य 1 की बजाय 2 दिनेरियम होगा, लेकिन इससे मालों की आपसी विनिमय दर यानी उनकी सापेक्षिक कीमत में कोई अन्तर नहीं आयेगा। सापेक्षिक कीमतें पहले की ही तरह सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम की मात्रा और मुनाफ़े के दर के औसतीकरण से ही निर्धारित होती है।

अगली मंज़िल शुद्ध रूप से फियेट मुद्रा यानी ऐसी "अपरिवर्तनीय" कागज़ी मुद्रा होती है जहाँ सोना अब *आधिकारिक तौर पर* मूल्य की माप व कीमतों का मानक नहीं रह जाता है। इस सूरत में मुद्रा का मूल्य कैसे निर्धारित होता है? इस सूरत में भी मालों की सापेक्षिक कीमत पर कोई फ़र्क नहीं पड़ता और वह पहले की ही तरह सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल (यानी सामाजिक मूल्य) और मुनाफ़े के दर के औसतीकरण (यानी उत्पादन की कीमतें) से ही निर्धारित होती है, जिसके बारे में हम आगे के अध्यायों में पढ़ेंगे। लेकिन चूँकि सोना अब *सीधे आधिकारिक तौर पर* मूल्य की माप और कीमतों का मानक नहीं रह जाता है और सोने की बाज़ार कीमत स्वयं फियेट मुद्रा में उत्पादन, मुनाफ़े के औसतीकरण और माँग और आपूर्ति की स्थितियों के अनुसार घटती-बढ़ती है, इसलिए स्वर्ण-मुद्रा के सापेक्ष निरपेक्ष कीमतों या कीमतों के सामान्य स्तर (general level of prices) का कोई नॉर्मल स्तर नहीं होता है जो मूल्य की माप व कीमतों के मानक के तौर पर किसी मुद्रा-माल (यानी सोना या चाँदी) से बँधा हुआ हो। वजह यह कि अब पूर्ण रूप से फियेट मुद्रा सोने के साथ औपचारिक तौर पर बँधी हुई नहीं है। ऐसे में, अगर राज्यसत्ता द्वारा उत्पादन की स्थितियों, प्रतिस्पर्द्धा व मुनाफ़े के औसतीकरण और अपनी वित्तीय आवश्यकताओं के अनुसार निर्धारित होने वाली सापेक्षिक कीमतों व उसके अनुरूप सोने की मात्रा की तुलना में अधिक फियेट मुद्रा जारी की जाती है, तो *एक सीमा के बाद* निरपेक्ष कीमतों के सामान्य स्तर (general level of prices) में बढ़ोत्तरी होती है। हम इस परिशिष्ट के आखिरी हिस्से में देखेंगे कि यह सीमा क्या होती है।

क्या इसका यह अर्थ है कि फियेट मुद्रा के मामले में मार्क्स द्वारा उद्घाटित मुद्रा के नियमों की जगह रिकार्डो व ह्यूम का मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त लागू होता है, जिसके अनुसार मुद्रा का मूल्य और इसलिए कीमतों का सामान्य स्तर केवल मुद्रा के परिमाण से निर्धारित हो जाता है? **नहीं।** क्योंकि मुद्रा की मात्रा अभी भी मालों की सापेक्षिक कीमत की कोई व्याख्या नहीं कर सकती। साथ ही, जारी की गयी समस्त फियेट मुद्रा, जिसमें कि बैंकों द्वारा जारी की गयी क्रेडिट मुद्रा भी शामिल है, संचरण में नहीं चली जाती है। यह मुख्यत: दो रूपों में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मौजूद होती है। पहला, मुद्रा की वह मात्रा जो नकदी और मूल डिपॉज़िट्स के रूप में बैंकों में मौजूद होती है। दूसरा, बैंकों द्वारा जारी क्रेडिट से पैदा होने वाली क्रेडिट मुद्रा। दरअसल, डिपॉज़िट्स के दो हिस्से हो जाते हैं। क्योंकि जमा की गयी राशि के आधार पर बैंक ऋण देते हैं और अक्सर उस ऋण की राशि जमा की गयी राशि से कहीं ज़्यादा होती है। पूँजीवादी उत्पादन में क्रेडिट तन्त्र के विकास के साथ बैंकिंग पूँजीपति यह समझ जाता है कि उसे मात्र जमा राशियों का संरक्षक होने की आवश्यकता नहीं है और नकदी की औसत रोज़ाना माँग के अनुसार, वह अपने खातों में जमा राशि के अतिरिक्त और कई बार उससे अधिक मात्रा में ऋण दे सकते हैं। इसे संरक्षण बैंकिंग (guardian banking) से आंशिक रिज़र्व बैंकिंग (fractional reserve banking) में संक्रमण कहा जाता है। लेकिन बैंकिंग का बुनियादी नियम होता है कि हर ऋण स्वयं एक डिपॉज़िट पैदा करता है। मान लें कि बैंक ने किसी पूँजीपति को 1 करोड़ रुपये का कर्ज़ दिया तो इसका अर्थ है कि उस पूँजीपति के नाम के खाते में 1 करोड़ रुपये दर्ज़ हो जाते हैं। ऋण दी गयी राशि के आधार पर पैदा होने वाले क्रेडिट उपकरण भी अर्थव्यवस्था में संचरण के माध्यम के रूप में सर्कुलेट हो सकते हैं और आम तौर पर होते ही हैं। बैंक में जो वास्तविक मूल डिपॉज़िट्स होते हैं और अर्थव्यवस्था में जो नकदी मालों के संचरण में सर्कुलेट होती है, उसे ही 'हाई पावर्ड मनी' कहा जाता है, यानी मुद्रा का वह रूप जो केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी किया जाता है। इसे अर्थव्यवस्था का मौद्रिक आधार भी कहा जाता है। इसके अलावा, वे डिपॉज़िट्स होते हैं जो बैंकों द्वारा दिये गये ऋण से बनते हैं, यानी जो मुद्रा पूँजी की माँग की वजह से बैंकों द्वारा पैदा की गयी क्रेडिट मुद्रा है। नकदी, नकदी रिज़र्व (यानी मूल डिपॉज़िट्स) तथा ऋण द्वारा पैदा हुए डिपॉज़िट्स ही पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा की समस्त मात्रा होती है। जैसा कि हम देख सकते हैं कि ज़रूरी नहीं कि यह समूची मात्रा मालों के संचरण में लगी हो। जो मात्रा सीधे मालों के संचरण के माध्यम का काम करती है, वह नकदी के रूप में मौजूद होती है जबकि बाकी रिज़र्व के रूप में बैंकों के डिपॉजिटों के रूप में जमा होती है। मालों के संचरण की आवश्यकता के अनुसार जमा डिपॉजिट्स व नकदी की मात्रा बदलती रहती है, हालाँकि इससे हमेशा मुद्रा की कुल मात्रा में बदलाव हो यह आवश्यक नहीं है। इसमें से कुछ अलग-अलग रूपों में भण्डारित (जमा/hoarded) होती हैं और कुछ नकदी के रूप में मालों के संचरण को अंजाम देती है। मिसाल के तौर पर, यदि बैंकों के पास रिज़र्व के तौर पर कुल 15 लाख रुपये हैं (जिसमें मूल डिपॉजिट व ऋण द्वारा पैदा हुए डिपॉजिट शामिल हैं) और अर्थव्यवस्था में नकदी के तौर पर कुल 5 लाख रुपये हैं, और कोई व्यक्ति अपने डिपॉजिट से 1 लाख रुपये कहीं पर भुगतान हेतु निकालता है, तो अब बैंकों के पास रिज़र्व के तौर पर 14 लाख रुपये होंगे जबकि मालों के संचरण की बदली आवश्यकता के अनुसार 6 लाख रुपये नकदी में होंगे। लेकिन अर्थव्यवस्था में हर प्रकार की मुद्रा की कुल मात्रा 20 लाख रुपये ही होगी। यह कुल मात्रा भी मालों के संचरण की आवश्यकता और पूँजी की माँग के अनुसार बदल सकती है, जो कि स्वयं अर्थव्यवस्था की औसत मुनाफ़े की दर से ही निर्धारित होती हैं। जैसा कि आप देख सकते हैं, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा की समूची मात्रा मालों के संचरण में नहीं लगी होती है। नतीजतन, मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त निरपेक्ष कीमतों व मुद्रा के मूल्य की भी कोई व्याख्या नहीं कर सकता है क्योंकि वह मुद्रा को केवल संचरण के माध्यम के रूप में ही समझता है। यह तो स्पष्ट ही है कि मुद्रा की जारी की गयी मात्रा मालों की सापेक्षिक कीमत की कोई व्याख्या नहीं कर सकती, लेकिन यह भी स्पष्ट है कि *अपने आप में* समस्त रूपों में जारी मुद्रा कीमतों के निरपेक्ष स्तर की भी सुसंगत व्याख्या नहीं कर सकती है। पहले सापेक्षिक कीमत का मामला समझते हैं।

मान लें कि1 जूते की कीमत यदि 100 रुपये है और 2 कमीज़ की कीमत भी 100 रुपये है, तो 1 जूते का विनिमय 2 कमीज़ के साथ होता है। यदि कागज़ी मुद्रा के अधिक मात्रा में जारी होने के कारण अब उसी जूते की कीमत 200 रुपये है तो (दोनों क्षेत्रों में उत्पादन की स्थितियाँ समान रहने की सूरत में) 2 कमीज़ की कीमत भी 200 रुपये हो जायेगी। सापेक्षिक कीमतों का स्तर पहले के ही समान मूल्य के श्रम नियम से ही तय हो रहा है और फियेट मुद्रा में अभिव्यक्त होने वाला निरपेक्ष कीमतों का स्तर ऊपरी तौर पर उन्हें बढ़ाकर प्रकट करता है। **निश्चित तौर पर, जिस वर्ग का वेतन या मज़दूरी सोने में अपरिवर्तनीय कागज़ी मुद्रा (जहाँ सोना अभी भी मूल्य की माप के रूप में काम कर रहा है) या फिर शुद्ध रूप से फियेट मुद्रा (जहाँ सोना औपचारिक व आधिकारिक तौर पर मूल्य की माप का काम करना बन्द कर चुका है) में तय होती है, आवश्यकता से अधिक अपरिवर्तनीय कागज़ी मुद्रा या शुद्ध रूप से फियेट मुद्रा जारी होने पर उसकी वास्तविक आय में तात्कालिक तौर पर कमी आती है और तात्कालिक तौर पर, पूँजीपति वर्ग इस रास्ते से मज़दूर वर्ग की वास्तविक मज़दूरी को कम करने के लिए इस तरक़ीब का इस्तेमाल भी करता है, हालाँकि इसकी एक सीमा होती है।** वजह यह कि यह वास्तविक आय इस प्रकार के मौद्रिक कदमों से किसी भी विचारणीय कालखण्ड के लिए इतनी नीचे नहीं लायी जा सकती है कि श्रमशक्ति का पुनरुत्पादन ही न हो सके। साथ ही, वास्तविक मज़दूरी में इस प्रकार होने वाली कमी के प्रतिसाद या जवाब के तौर पर अन्ततः मज़दूर वर्ग अपनी मज़दूरी को बढ़ाने का संघर्ष करता है। इसलिए *अपने आप में* कागज़ी मुद्रा की मात्रा को घटाने या बढ़ाने से *दीर्घकालिक तौर पर* वास्तविक सापेक्षिक कीमतों के स्तर पर निर्णायक प्रभाव नहीं पड़ता है।

तो फिर महँगाई के ढाँचागत तौर पर बढ़ने या यूँ कहें कि कीमतों के सामान्य स्तर में दूरगामी और ढाँचागत तौर पर होने वाले उतार-चढ़ावों के क्या मूल कारण होते हैं? तात्कालिक तौर पर, महँगाई बाज़ार में किसी भी कारण से माँग और आपूर्ति में आने वाले तात्कालिक उतार-चढ़ावों, जमाखोरी, सरकार द्वारा अप्रत्यक्ष करों का बोझ बढ़ाये जाने, प्राकृतिक कारणों जैसे कि अकाल आदि के कारण बढ़ सकती है। लेकिन महँगाई या फिर कहें कि कीमतों के सामान्य स्तर की आम गति के पीछे काम करने वाले मूल ढाँचागत कारक क्या हैं? मार्क्स ने बताया था कि माल मुद्रा (commodity money) के ज़माने में यदि सोने के उत्पादन क्षेत्र में उत्पादकता समूची अर्थव्यवस्था की औसत उत्पादकता के मुकाबले ज़्यादा तेज़ी से बढ़ती है और नतीजतन उसके मूल्य में कमी आती है, तो कीमतों का आम स्तर बढ़ेगा क्योंकि अन्य मालों का मूल्य सोने के मूल्य के सापेक्ष बढ़ेगा और कीमत और कुछ नहीं होती बल्कि मालों के मूल्य का सोने के मूल्य के साथ अनुपात होता है। यदि इसका उल्टा होता है तो कीमतों का आम स्तर नीचे आयेगा। स्पष्ट है कि मुद्रा-माल यानी सोने के मूल्य में होने वाले उतार-चढ़ाव के साथ मालों की निरपेक्ष कीमतों में उतार-चढ़ाव होता है, उनकी सापेक्षिक कीमतों में नहीं। ये नियम आम तौर पर सोने की मुद्रा, मूल्य के अन्य प्रतीकों (जो कि सीधे सोने का प्रतिनिधित्व करते हैं) जैसे अन्य धातुओं के सिक्कों व परिवर्तनीय कागज़ी मुद्रा पर सीधे तौर पर लागू होते हैं। इसके बाद, मार्क्स "अपरिवर्तनीय" कागज़ी मुद्रा की बात करते हैं। यदि "अपरिवर्तनीय" कागज़ी मुद्रा सोने की मुद्रा की आवश्यक मात्रा के सापेक्ष अधिक मात्रा में जारी की जाती है, तो स्वर्णिम कीमतों (golden prices) यानी कि सोने की मुद्रा में कीमतों में तो कोई अन्तर नहीं आयेगा और न ही मालों की सापेक्षिक कीमतों में कोई अन्तर आयेगा, लेकिन कागज़ी मुद्रा में कीमतें बढ़ेंगी, कागज़ी मुद्रा में सोने की कीमतें, यानी कागज़ी मुद्रा के साथ मुद्रा-माल के विनिमय की दर भी बढ़ेगी और नतीजतन निरपेक्ष कीमतों के स्तर में बढ़ोत्तरी होगी। जैसा कि हमने ऊपर ज़िक्र किया, ऐसी स्थिति में, कागज़ी मुद्रा में तय मज़दूरी या वेतन वाले वर्ग को निश्चित तौर पर अपनी वास्तविक आय में तात्कालिक तौर पर कमी का सामना करना पड़ता है।

पूर्ण रूप से फियेट मुद्रा (pure fiat money) के दौर में सोना औपचारिक व आधिकारिक तौर पर मूल्य की माप नहीं रह जाता है। ऐसे में, *सैद्धान्तिक तौर पर,* राज्यसत्ता अपने मौद्रिक प्राधिकार के ज़रिये किसी भी मात्रा में कागज़ी मुद्रा जारी कर सकती है। युद्ध या आपदा के दौर में या अन्य आपात स्थितियों में पूँजीवादी राज्यसत्ताएँ अपने ख़र्च को पूरा करने के लिए अतीत में ऐसा करती भी रही हैं। लेकिन जब भी विशेष तौर पर आर्थिक संकट के दौर में राज्यसत्ता द्वारा माल संचरण तथा मुद्रा पूँजी की माँग से अधिक मात्रा में फियेट मुद्रा अर्थव्यवस्था में डाली जाती है तो उसका नतीजा आत्यन्तिक मुद्रास्फीति (hyperinflation) के रूप में सामने आया है। 1923 का जर्मनी और 1980 के दशक का अर्जेण्टीना इसके प्रमुख आधुनिक उदाहरण हैं। ऐसा होने पर इन देशों की मुद्रा में जनता का विश्वास ही समाप्त हो गया और लोगों ने सोने की जमाखोरी करना, सोने के ज़रिये

(पेज 15 पर जारी)

स्वर्ण असमर्थित कागज़ी मुद्रा (फियेट मुद्रा) के विशिष्ट मार्क्सवादी नियम

(पेज 14 से आगे)

मालों का विनिमय करना, अन्य किसी वांछनीय माल को संचरण का माध्यम बनाना शुरू कर दिया। लेकिन जो चीज़ सबसे ज़्यादा हुई वह था लोगों द्वारा सोने को ख़रीदने और उसकी जमाखोरी करने की होड़। वजह यह कि फियेट मुद्रा और उसे जारी करने वाली सरकार व उसकी अर्थव्यवस्था में जनता का भरोसा ख़त्म हो चुका था और अगर कोई चीज़ आर्थिक सुरक्षा मुहैया करा सकती थी तो वह था किसी **वास्तविक मुद्रा-माल का संचय**, जिसमें कि मूल्य अन्तर्भूत हो, यानी जिसके उत्पादन में श्रम का ख़र्च हुआ हो। मुद्रा के संचय/भण्डारण (hoarding) की भूमिका यही मुद्रा निभा सकती थी। फियेट मुद्रा के दौर में जो मूल्य का श्रम सिद्धान्त वाष्पित हो गया प्रतीत होता है, वह ऐसे आर्थिक संकटों के दौर में सहसा एक प्राकृतिक शक्ति के रूप में प्रकट होता है। राज्य द्वारा जारी फियेट मुद्रा व बैंकों द्वारा जारी क्रेडिट मुद्रा (इस पर आगे के अध्यायों में विस्तार से चर्चा की जायेगी) पर आधारित ऋण अर्थव्यवस्था (credit economy) ऐसे संकट के दौरों में, मार्क्स के शब्दों में, सहसा मौद्रिक अर्थव्यवस्था (monetary economy) में तब्दील हो जाती है और लोगों में सोने की जमाखोरी की होड़ लग जाती है। यहाँ एक वास्तविक मुद्रा-माल मुद्रा के तीसरे प्रकार्य को पूरा करते हुए फिर से प्रकट होता है, यानी मुद्रा की जमाखोरी क्योंकि वह अन्तर्भूत मूल्य (intrinsic value) वाला सार्वभौमिक समतुल्य है। कागज़ी मुद्रा की ऐसे संकट के दौरों में विश्वस्नीयता ख़त्म होती जाती है। हर दिन के साथ कागज़ी मुद्रा का मूल्य गिरता है और लोग उसे किसी वास्तविक मुद्रा-माल में तब्दील करने की होड़ में लग जाते हैं क्योंकि उसका मूल्य किसी भी दिये गये दिक् व काल में उसमें लगे अमूर्त श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है। यानी, सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम द्वारा, जो कि उसके उत्पादन में ख़र्च हुआ है।

इसलिए फियेट मुद्रा के दौर में औपचारिक तौर पर सोना मूल्य की माप नहीं रहा जाता है और इसलिए उसके नियम कुछ मायनों में मुद्रा-माल और उसके प्रतीकों के संचरण को संचालित करने वाले नियमों से भिन्न होते हैं। लेकिन उसके नियम भी मुद्रा-माल, उसके परिवर्तनीय प्रतीकों और फिर उसके "अपरिवर्तनीय" प्रतीकों के विकास और फिर उनके अतिक्रमण के नियमों से ही निकलते हैं। अन्तर सिर्फ इतना होता है कि जब तक स्वयं स्वर्ण-मुद्रा मालों के संचरण का माध्यम होती है, तो कीमतों का निर्धारण सीधे समस्त मालों के उत्पादन और सोने के उत्पादन की स्थितियों से होता है; जब उसके परिवर्तनीय प्रतीक (अन्य धातुओं के सिक्के या परिवर्तनीय कागज़ी मुद्रा) का दौर आता है, तो भी ये ही नियम लागू होते हैं कि क्योंकि राज्यसत्ता के मौद्रिक प्राधिकार मनमाने तरीके से कागज़ी मुद्रा नहीं जारी कर सकते हैं और वे सोने के उनके रिज़र्व से निर्धारित होती है; इसके बाद, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विस्तार और विकास के साथ यह धात्विक बैरियर पूँजीवादी उत्पादन व पूँजी संचय में बाधा पैदा करने लगता है। मार्क्स इस बात को अच्छी तरह से समझते थे कि मूल्य की माप व कीमतों के मानक के स्थापित होने के बाद 10 लाख रुपये के माल के विनिमय हेतु 10 लाख रुपये के मूल्य के बराबर सोने की कोई आवश्यकता नहीं है और यह काम कागज़ी मुद्रा भी कर सकती है जिसकी सोने के साथ आंशिक तौर पर फिक्स्ड/लचीली विनिमय दर (यानी परिवर्तनीय कागज़ी मुद्रा) हो या पूर्ण रूप से लचीली विनिमय दर (यानी अपरिवर्तनीय कागज़ी मुद्रा) हो।

मार्क्स के जीवन-काल में उपरोक्त रूपों में ही मुद्रा-रूप का उद्भव और विकास हुआ। इसलिए यह ज़ाहिर है कि मार्क्स उसी के बारे में बात कर सकते थे, पूर्ण रूप से फियेट मुद्रा व करेंसी की नहीं, जो कि पैदा ही 1940 से 1971 के बीच हुई है। यानी, ऐसी "अपरिवर्तनीय" कागज़ी मुद्रा जिसमें सोने ने औपचारिक व आधिकारिक तौर पर मूल्य की माप की भूमिका निभाना बन्द कर दिया है। लेकिन क्या मार्क्स द्वारा दिये गये मूल्य के सिद्धान्त से ऐसी फियेट मुद्रा को नहीं समझा जा सकता है, जैसा कि कई लोग दावा करते हैं? क्या ऐसी फियेट मुद्रा के दौर में रिकार्डो का मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त लागू होता है? नहीं। फियेट मुद्रा के गति के नियम भी मूल्य के नियम से ही बँधे हैं। बस फ़र्क इतना है कि फियेट मुद्रा का मूल्य आधिकारिक तथा औपचारिक तौर पर सीधे सोने के मूल्य से निर्धारित नहीं होता है। लेकिन यह सिर्फ प्रतीति (appearance) का स्तर है।

किसी भी प्रकार की मुद्रा की एक इकाई पूँजीवादी समाज में सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम यानी की मूल्य के एक विशिष्ट परिमाण की नुमाइन्दगी करती है। मार्क्स मूल्य के मौद्रिक समतुल्य की बात करते हुए इस प्रकार की मिसालें देते हैं: "मान लें कि 3 शिलिंग 6 घण्टे के सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम की नुमाइन्दगी करता है", आदि। इस प्रतिनिधित्व की प्रक्रिया में सोना *औपचारिक व आधिकारिक तौर पर* एक मध्यस्थ हो सकता है या नहीं हो सकता है। सोना मुद्रा बनने के साथ एक आम माल नहीं रह जाता है बल्कि मूल्य की एक ऐसी माप या स्केल बन जाता है, जो कि स्वयं भी परिवर्तनीय है क्योंकि सोने के मूल्य में स्वयं परिवर्तन आता है। कागज़ी मुद्रा इस रूप में और कुछ नहीं सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम की एक विशिष्ट मात्रा की नुमाइन्दगी करती है। जब वह सोने से औपचारिक तौर पर बँधी नहीं भी रह जाती है तो भी वह सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम की किसी मात्रा का ही प्रतिनिधित्व करती है और इसकी गणना करने की कई पद्धतियाँ मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्रियों ने बाद में निकाली हैं। आगे हम इनमें से एक पद्धति पर चर्चा करेंगे और साथ ही यह समझेंगे कि फियेट मुद्रा के दौर में महँगाई के उतार-चढ़ाव को कौन-से ढाँचागत कारक प्रभावित करते हैं।

यहाँ जिस बात पर हमें सबसे पहले ग़ौर करना चाहिए वह यह है कि मुद्रा और कुछ नहीं बल्कि मूल्य का स्वतन्त्र-रूप (independent value-form) है। मूल्य हमारे सामने हमेशा ठोस तौर पर मुद्रा-रूप में ही नहीं आता है, बल्कि यह दो विनिमय करने वाले पक्षों के बीच किसी बही में दर्ज हो रहे श्रम के घण्टों, अचल पूँजी के घिसाई मूल्य, पूँजीपतियों के बहीखातों में मालों के मूल्य के रूप में भी सामने आता है। यह दिखलाता है कि ऐतिहासिक तौर पर और तार्किक तौर पर मालों का अस्तित्व मुद्रा के अस्तित्व से पुराना है और मूल्य और कुछ नहीं है बल्कि जम गया अमूर्त श्रम (congealed abstract labour) है जिसे सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल में मापा जाता है। मुद्रा की व्याख्या केवल मालों के मूल्य के आधार पर ही की जा सकती है। इसके बिना अवधारणात्मक तौर पर मुद्रा की व्याख्या न तो ऐतिहासिक तौर पर की जा सकती है और नही तार्किक तौर पर। मुद्रा का मूल प्रकार्य ही यह है कि वह सामाजिक रूप से आवश्यक अमूर्त साधारण श्रम की मात्रा यानी मूल्य को अभिव्यक्त करने वाला स्वतन्त्र-मूल्य रूप है।

निश्चित तौर पर, ऐतिहासिक तौर पर, यह एक माल के रूप में ही पैदा होता है लेकिन हमेशा इसका औपचारिक व आधिकारिक तौर पर किसी माल से बँधा होना अनिवार्य नहीं है। **मार्क्स के मुद्रा के सिद्धान्त से ही यह बात स्पष्ट तौर पर निकलती है कि साधारण माल उत्पादन से पूँजीवादी उत्पादन पद्धति में संक्रमण और पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के उत्तरोत्तर विकास के साथ पूँजी संचय व विस्तारित पुनरुत्पादन मुद्रा-माल की धात्विक सीमा का अतिक्रमण करते हुए मुद्रा-माल, मुद्रा-माल के प्रतिनिधियों (मसलन, अन्य धातुओं के सिक्के, परिवर्तनीय कागज़ी नोट) व "अपरितर्वनीय" कागज़ी नोट और उसके बाद शुद्धत: फियेट मुद्रा तक के संक्रमण को अंजाम देते हैं।** यह मुद्रा के अलग-अलग प्रकार्यों के विकसित होने और उनके आपसी सम्बन्धों के रूपान्तरित होने में प्रकट होता है, यानी मूल्य की माप, कीमतों का मानक, संचरण का माध्यम और मूल्य का भण्डार (यानी, आर्थिक सुरक्षा के उपाय के तौर पर मुद्रा की जमाखोरी)। आज जब कि हम शुद्ध फियेट मुद्रा के युग में हैं, तो मूल्य की माप के तौर पर सोने की औपचारिक व आधिकारिक भूमिका समाप्त हो चुकी है। राज्यसत्ता के मौद्रिक प्राधिकार द्वारा संचरण में डाली गयी कागज़ी मुद्रा की मात्रा समस्त मालों की निरपेक्ष कीमतों, या कीमतों के सामान्य स्तर, को निर्धारित करती है। लेकिन वह मालों की सापेक्षिक कीमत को निर्धारित नहीं करती। साथ ही, राज्यसत्ता के मौद्रिक प्राधिकार मनमाने तरीके से कागज़ी मुद्रा को जारी नहीं कर सकते हैं, बल्कि उसकी मात्रा मालों के संचरण और मुद्रा-पूँजी की माँग से निर्धारित होती है। यदि कोई मौद्रिक प्राधिकार इससे ज़्यादा कागज़ी मुद्रा जारी करता है, तो एक सीमा के बाद कीमतों का सामान्य स्तर बढ़ता है। वह सीमा क्या है, उस पर हम आगे बात करेंगे, लेकिन पहले यह समझ लेते हैं कि ऐसी शुद्ध फियेट मुद्रा के तौर पर मुद्रा का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है।

जब स्वर्ण मुद्रा ही मूल्य की माप व कीमतों के मानक के साथ संचरण के माध्यम की भूमिका भी निभाती थी, उस दौर में मार्क्स ने मुद्रा के मूल्य को निम्न रूप निर्धारित किया था। मुद्रा का मूल्य सोने के उत्पादन में लगने वाले सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल से निर्धारित होता है। ऐसे में, मालों की कीमत और कुछ नहीं बल्कि मालों के उत्पादन में लगने वाले सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल और सोने के उत्पादन में लगने वाले सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल के अनुपात से निर्धारित होती थी। गणितीय सूत्रीकरण के तौर पर देखें, तो:

$$\sum P = L_c / L_g$$

समस्त मालों की कुल कीमत = समस्त मालों के उत्पादन में लगने वाले सामाजिक श्रम की कुल मात्रा/स्वर्ण मुद्रा के उत्पादन में लगने वाले सामाजिक श्रम की मात्रा

($\sum P$ यहाँ कीमतों का कुल योग है, L_c मालों के उत्पादन में लगा सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम है, जबकि L_g सोने के उत्पादन में लगा सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम है)

इसी समीकरण को हम इस प्रकार भी लिख सकते हैं:

$$\sum P = (1/L_g) * L_c$$

यहाँ हम समस्त मालों की कुल कीमत की बात कर रहे हैं, इसलिए अलग-अलग मालों के मूल्य, उनकी उत्पादन की कीमत और उनकी बाज़ार की कीमतों के अन्तर से कोई फ़र्क नहीं पड़ता क्योंकि समूची अर्थव्यवस्था के स्तर पर सामाजिक मूल्य, उत्पादन की कीमतों व बाज़ार कीमतों के योग बराबर होते हैं। यह मार्क्स द्वारा उद्घाटित माल उत्पादन का बुनियादी नियम है। **यानी, मूल्य विनिमय में न तो पैदा हो सकता है और न ही नष्ट हो सकता है।**

उपरोक्त समीकरण में $1/L_g$ को ही श्रमकाल का मौद्रिक समतुल्य (Monetary Equivalent of Labour-Time) कहा जाता है। यह और कुछ नहीं बल्कि एक इकाई समय में उत्पादित सोने की मात्रा है। मिसाल के तौर पर, अगर 4 घण्टे में 1 आउंस सोना पैदा होता है तो:

$1/L_g$ = ¼ आउंस सोना

यह समूची अर्थव्यवस्था में हर घण्टे पैदा होने वाले नये मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है।

मार्क्स का अगला महत्वपूर्ण बिन्दु माल उत्पादन का एक आम नियम है, यानी कि यह कि सभी मालों की कुल कीमत और संचरण में मौजूद मुद्रा की मात्रा के बीच एक निश्चित सम्बन्ध होता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि समस्त मालों की कीमतों का योग उनके उत्पादन में लगने वाले सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल और सोने के उत्पादन में लगने वाले सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल का अनुपात है क्योंकि मालों की कीमत और कुछ नहीं होती बल्कि उनके मूल्य (यानी उनमें अन्तर्भूत सामाजिक श्रम की मात्रा) और सोने के मूल्य का अनुपात ही होती है। यहाँ तक अभी हम मुद्रा की मात्रा की बात भी नहीं कर रहे हैं। ऐसे में मुद्रा की मात्रा कैसे निर्धारित होती है? मार्क्स के अनुसार, यह कीमतों के कुल योग और मुद्रा के वेग से निर्धारित होती है। यानी:

$$M_g = \sum P/V$$

जहाँ M_g स्वर्ण मुद्रा की मात्रा है और V स्वर्ण मुद्रा का वेग है। इस प्रकार यह कीमतों का कुल योग और मुद्रा का वेग है जो कि संचरित होने वाली मुद्रा की मात्रा को तय करता है। स्वर्ण मुद्रा या उसके परिवर्तनीय प्रतिनिधियों (यानी अन्य धातुओं के सिक्कों व परिवर्तनीय कागज़ी मुद्रा) के युग में यदि मौद्रिक प्राधिकार इससे ज़्यादा मुद्रा संचरण में डालता है या अन्य कारणों से सोने की अधिक मात्रा अर्थव्यवस्था में आती है, तो उसकी जमाखोरी होगी और वह पूरी की पूरी संचरण में नहीं जायेगी। यहीं पर मार्क्स ह्यूम और रिकार्डो से भिन्न थे।

रिकार्डो के अनुसार, किसी भी प्रकार की मुद्रा की मात्रा ज़्यादा होने पर मुद्रा का मूल्य गिर जायेगा और कीमतें बढ़ जायेंगी। मार्क्स ने बताया कि ऐसा नहीं होगा। यदि मुद्रा की आपूर्ति संचरण की आवश्यकता से बढ़ती है तो पूँजीवादी माल उत्पादन की व्यवस्था में इसके दो नतीजे होंगे: पहला, मुद्रा पूँजी का आधिक्य होगा और इसके नतीजे के तौर पर औसत ब्याज़ दर गिर जायेगी और मुनाफ़े की दर और इसलिए निवेश की दर में बढ़ोत्तरी होगी। दूसरा यह कि इसके कारण समाज में मौजूद प्रभावी माँग में भी एक हद तक बढ़ोत्तरी होगी, जो सीमित तौर पर उत्पादन को बढ़ावा देगी। लेकिन इसकी एक सीमा होगी, जिस पर हम अन्त में आएँगे। ज़ाहिर है, रिकार्डो मुद्रा को केवल संचरण के माध्यम के तौर पर देख रहे थे और मूल्य की माप और मूल्य के भण्डार तथा जमाखोरी के प्रकार्य को नहीं समझ पा रहे थे।

अब उपरोक्त समीकरण में "अपरिवर्तनीय" कागज़ी मुद्रा की सूरत में क्या परिवर्तन होंगे, उन्हें समझना ज़रूरी है। ठीक यही परिवर्तन शुद्ध फियेट मुद्रा पर भी लागू होंगे, यानी वह कागज़ी मुद्रा जिसके मामले में सोना अब औपचारिक व आधिकारिक तौर पर मूल्य की माप या कीमतों का मानक नहीं रह गया है। इस मामले में मुद्रा का मूल्य केवल सोने के मूल्य पर निर्भर नहीं करता है, बल्कि यह संचरण में डाली गयी फियेट मुद्रा की मात्रा पर भी निर्भर करता है। यहाँ मुद्रा का मूल्य मालों के संचरण के लिए आवश्यक स्वर्ण-मुद्रा की वांछित मात्रा (जो स्वर्ण-मुद्रा व उसके प्रतिनिधियों जैसे कि

(पेज 16 पर जारी)

स्वर्ण असमर्थित कागज़ी मुद्रा (फियेट मुद्रा) के विशिष्ट मार्क्सवादी नियम

(पेज 15 से आगे)

अन्य धातुओं के सिक्कों या परिवर्तनीय कागज़ी नोटों के संचरण के माध्यम होने की सूरत में आवश्यक होती) और संचरण में डाली गयी फियेट मुद्रा के अनुपात से निर्धारित होता है। गणितीय सूत्रीकरण के तौर पर कहें तो:

फियेट मुद्रा की स्थिति में श्रमकाल का मौद्रिक समतुल्य ($MELT_p$) = ($1/L_g$) * (M_p/M_g) = MELT * (M_p/M_g)

यहाँ पर M_g सोने की मुद्रा की वह मात्रा है जो कि संचरण का माध्यम *होती*, अगर सोने की मुद्रा या उसके परिवर्तनीय प्रतीक या प्रतिनिधि संरचण में होते; M_p फियेट मुद्रा की मात्रा है जो कि संरचण में डाली गयी है।

देखने में यह लग सकता है कि फियेट मुद्रा के मामले में हम मुद्रा की मात्रा से मुद्रा के मूल्य का निर्धारण कर रहे हैं और इस पर रिकार्डो के परिमाण सिद्धान्त पर जा रहे हैं। लेकिन ऐसा नहीं है क्योंकि मार्क्स के अनुसार उनके ज़माने की "अपरिवर्तनीय" कागज़ी मुद्रा की सूरत में भी यह मुद्रा की मात्रा ही थी जो कि सोने के मूल्य के सापेक्ष *कागज़ी मुद्रा* के मूल्य को या सभी मालों की कागज़ी मुद्रा में कीमत को तय करती थी। इससे मालों की स्वर्णिम कीमत (golden prices) या सोने के मूल्य पर कोई अन्तर नहीं पड़ता था, हालाँकि कागज़ी मुद्रा में सोने की बाज़ार कीमत बदल जाती थी। यहाँ यह याद रखना ज़रूरी है कि मूल्य की सारवस्तु और कुछ नहीं बल्कि अमूर्त साधारण श्रम की मात्रा है जिसे सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल में मापा जाता है। अपने आप में सोना ही मूल्य नहीं है, वह मूल्य की माप है और इसके कुछ ठोस ऐतिहासिक कारण थे कि वह मूल्य की माप बना। मूल्य सामाजिक रूप से आवश्यक अमूर्त साधारण श्रम की मात्रा है। सामान्य तौर पर, सोना मूल्य की माप ठीक इसीलिए बना क्योंकि उसके उत्पादन में अमूर्त मानवीय श्रम लगा है। उसका एक अन्तर्भूत श्रम-मूल्य है। विशिष्ट तौर पर, वह मूल्य की माप इसलिए बना क्योंकि उसकी गुणवत्ता सार्वभौमिक तौर पर समान होती है (ठीक उसी प्रकार, जैसे कि अमूर्त श्रम की), उसे छोटे-छोटे खण्डों में विभाजित किया जा सकता है और वह कम नाशवान होता है। पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के एक ख़ास दौर में वह औपचारिक और आधिकारिक तौर पर मूल्य की माप बना। इसका यह अर्थ नहीं है कि पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के समूचे कालखण्ड में वह मूल्य की औपचारिक व आधिकारिक माप बना रहेगा। ऐसे में, यदि सोना औपचारिक तौर पर मूल्य की माप न रह जाये, उसकी कीमत कागज़ी मुद्रा में बाज़ार की गति के अनुसार ऊपर-नीचे हो और राज्यसत्ता और निजी पूँजीपति, व्यापारी आदि सोने को मूल्य की माप के तौर पर इस्तेमाल न भी करें, तो भी कागज़ी मुद्रा का मूल्य मूल्य के श्रम सिद्धान्त से ही निर्धारित होगा। बस उसमें सोने की मध्यस्थता *औपचारिक*

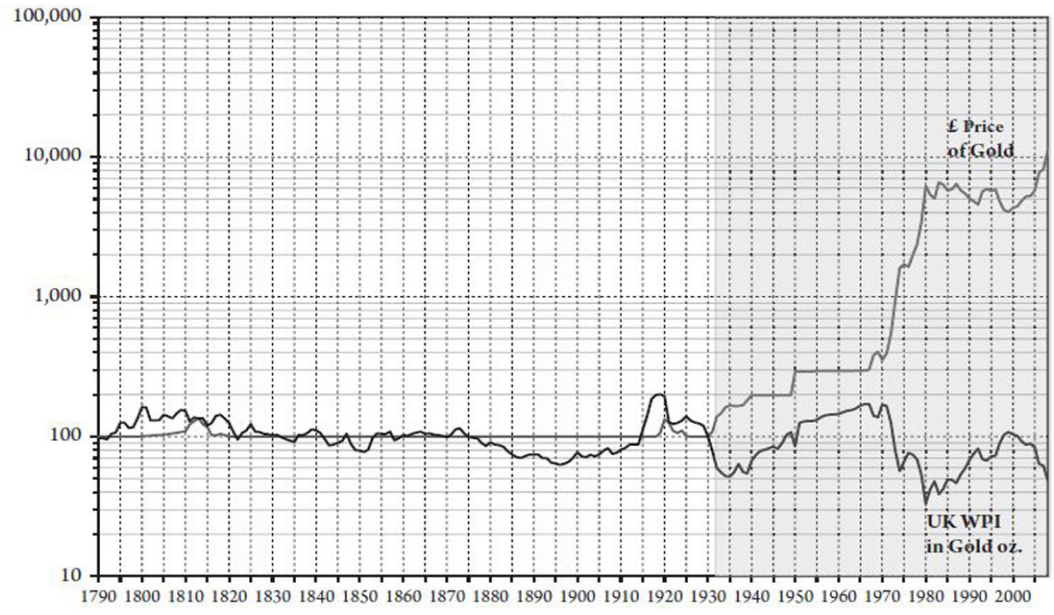

चित्र 1 : ब्रिटेन में स्वर्णिम कीमतों में थोक कीमत सूचकांक तथा सोने की पाउण्ड कीमत (मुद्रा कीमत), 1790 से 2009 तक. आधार वर्ष 1930, लॉग स्केल 1930 = 100

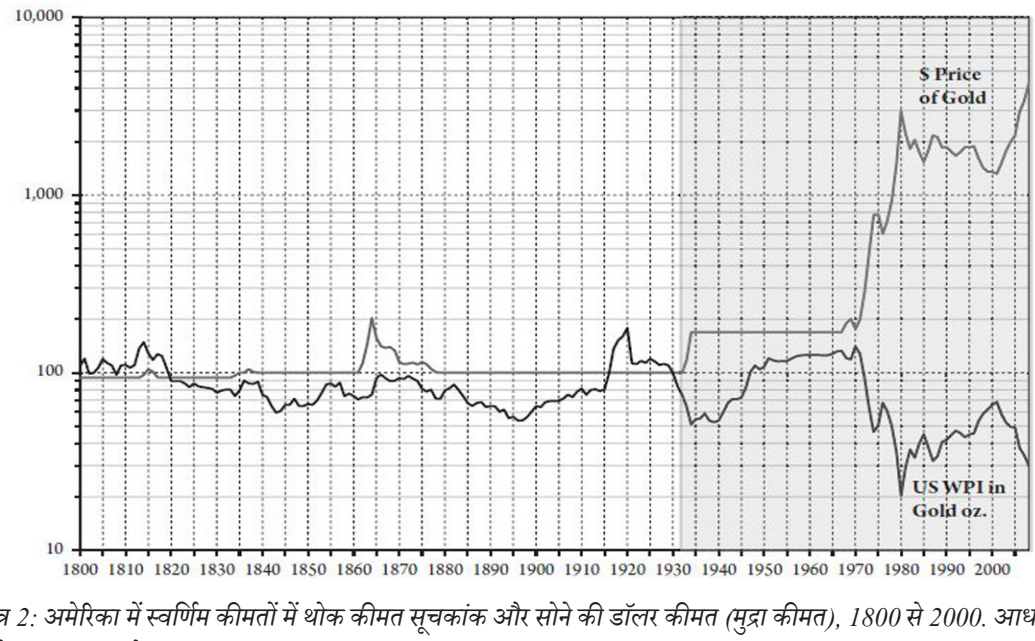

चित्र 2: अमेरिका में स्वर्णिम कीमतों में थोक कीमत सूचकांक और सोने की डॉलर कीमत (मुद्रा कीमत), 1800 से 2000. आधार वर्ष 1930, लॉग स्केल 1930 = 100

तौर पर समाप्त हो जायेगी, बल्कि वह आम तौर पर पूँजी संचय की गति और उत्पादन की स्थितियों से तय होगा। निश्चित तौर पर, इसमें मुद्रा के मूल्य के निर्धारण में पूँजीवादी राज्यसत्ता की मौद्रिक नीति और बाज़ार की गति की प्रत्यक्ष भूमिका और हस्तक्षेप के कारण मुद्रा का मूल्य कहीं ज़्यादा उथल-पुथल से होकर गुज़रेगा। लेकिन तब भी व मूल्य के श्रम सिद्धान्त से ही संचालित होगा।

यही कारण है कि जब अर्थव्यवस्थाएँ संकट में होती हैं और कागज़ी मुद्रा का अत्यधिक अवमूल्यन होता है, तो बाज़ार में सोने की माँग बढ़ जाती है। लोग मूल्य के भण्डार के तौर पर फियेट मुद्रा की जमाखोरी नहीं करते, बल्कि सोने की जमाखोरी करते हैं, जो ठीक इसीलिए आर्थिक सुरक्षा का माध्यम होता है क्योंकि उसमें मूल्य (संघनित अमूर्त श्रम) अन्तर्निहित होता है। नीचे दिये गये ग्राफ़ में आप देख सकते हैं कि अमेरिका और ब्रिटेन में 1970 के दशक के बाद भी, यानी जब स्वर्ण मानक समाप्त हो गया था, मालों की औसत स्वर्णिम कीमत में उस प्रकार का उतार-चढ़ाव देखने को नहीं मिलता है और वह उतार-चढ़ाव काफ़ी-कुछ उतना ही है जैसा कि 1970 के दशक के पहले था। इतना उतार-चढ़ाव उत्पादन की स्थितियों में परिवर्तन और मुनाफ़े की दर के औसतीकरण के कारण भी होता ही है। लेकिन कागज़ी मुद्रा में नापे जाने वाले कीमत सूचकांक में 1970 के दशक से हमें उछाल मिलता है और तब से निरपेक्ष कीमतों के स्तर में बढ़ने का रुझान सामान्य तौर पर दिखता है।

ऊपर दिये गये दो ग्राफ़ों से यह भी स्पष्ट है कि सोने की (फियेट मुद्रा में) बाज़ार कीमतों में 1970 के दशक के बाद तेज़ी से वृद्धि होती है और यह प्रक्रिया काफ़ी उथल-पुथल के साथ होती है। लेकिन कीमतों के आम स्तर में स्वर्णिम कीमतों के अनुसार कोई ज़्यादा बदलाव नहीं होता है, यानी सोने के साथ अन्य मालों की सापेक्षिक कीमत में कोई बड़ी गिरावट या बढ़ोत्तरी नहीं होती है। स्पष्ट है, निरपेक्ष कीमतों में होने वाली बढ़ोत्तरी का कारण वास्तव में फियेट मुद्रा में कीमतों (fiat money prices) में आया उछाल है क्योंकि संकट के दौर में अधिकांश पूँजीवादी सरकारों ने संकट से निपटने के लिए मौद्रिक अवमूल्यन कर अपने ख़र्चों को पूरा करने और मज़दूर वर्ग की वास्तविक मज़दूरी को कम करने का रास्ता चुना। जिन वर्गों के वेतन/मज़दूरी फियेट मुद्रा में निर्धारित होते हैं, ज़ाहिरा तौर पर, मुद्रा के हर अवमूल्यन पर उनकी वास्तविक आमदनी कम होती है। यह प्रक्रिया भी उतार-चढ़ाव से भरी होती है क्योंकि पूँजीपति वर्ग इस प्रक्रिया को एकतरफ़ा तरीके से और अन्तहीन तौर पर नहीं चला सकता है।

दूसरी वजह, जिसके कारण उपरोक्त रूप से फियेट मुद्रा के मूल्य के निर्धारण के बावजूद हम मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त पर नहीं जा रहे हैं वह यह है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त केवल निरपेक्ष कीमतों की बात करता है और वह मालों की सापेक्षिक कीमतों की कोई व्याख्या नहीं कर पाता है, जो कि स्वयं सामाजिक मूल्य (यानी सामाजिक रूप से आवश्यक अमूर्त श्रम की मात्रा) और उत्पादन की कीमतों (यानी मुनाफ़े के तमाम सेक्टरों के बीच औसतीकरण के बाद पैदा होने वाली कीमतें, जिसके इर्द-गिर्द बाज़ार कीमतें घूमती हैं) से ही तय होती है। मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त अलग-अलग मालों के मूल्य और सापेक्षिक कीमतों के निर्धारण की व्याख्या नहीं कर सकता है। मार्क्स के मौद्रिक सिद्धान्त को यदि हम "अपरिवर्तनीय" कागज़ी मुद्रा से फियेट मुद्रा तक भी विस्तारित करें, तो वह केवल निरपेक्ष कीमतों की ही नहीं बल्कि सापेक्षिक कीमतों को भी व्याख्यायित करता है और शुद्ध फियेट मुद्रा के ज़रिये कीमतों के स्तर का निर्धारण भी सिर्फ जारी की गयी मात्रा से नहीं बल्कि श्रमकाल के मौद्रिक समतुल्य के ज़रिये होता है, जिसका आकलन करने के लिए हम स्वर्ण-मुद्रा की उस काल्पनिक मात्रा (notional quantity) का आकलन करते हैं, जो संचरण का माध्यम होने पर अनिवार्य होती।

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त से अन्तर की तीसरी वजह यह है कि फियेट मुद्रा के मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की अनिवार्यता की व्याख्या पूँजीवादी माल उत्पादन की स्थितियों से निर्धारित होती है। कोई बैंक या कोई सरकारी मौद्रिक प्राधिकार भी मनमाने तरीके से मुद्रा की कोई भी मात्रा नहीं जारी कर सकता है और यह भी मालों के संचरण, मुद्रा पूँजी की माँग और राज्यसत्ता की आवश्यकताओं से निर्धारित होता है। **कुल मिलाकर, यह मुनाफ़े की औसत दर की गति होती है जो एक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा की माँग व मात्रा को निर्धारित करती है।** अन्यथा, फियेट मुद्रा के युग में मुद्रा की जमाखोरी, उसके संचित पिण्डों के मौजूदा होने की कोई तार्किक व्याख्या नहीं की जा सकती है। चूँकि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा के संचरण के माध्यम होने की भूमिका को ही रेखांकित करता है इसलिए उसके अनुसार मुद्रा की समूची मात्रा संचरण में होती है और इसी तर्क के आधार पर वह मुद्रा के मूल्य को निर्धारित करता है। लेकिन ऐसा नहीं होता है, यह कोई भी अर्थशास्त्र का विद्यार्थी जानता है। इस बात को मार्क्सवादी और ग़ैर-मार्क्सवादी अर्थशास्त्रियों ने तर्कों व तथ्यों के साथ प्रदर्शित किया है कि कीमतों के सामान्य स्तर (general level of prices) की, मुद्रा के तमाम पिण्डों (hoards) के पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में संचित होने की परिघटना की और मालों के सापेक्षिक मूल्य की व्याख्या पेश करने में मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त पूर्णत: असफल है।

अब हम इस प्रश्न पर आते हैं कि फियेट मुद्रा की जारी की जाने वाली मात्रा को पूँजीवादी राज्यसत्ता व उसका मौद्रिक प्राधिकार बढ़ाते हैं तो उसका तात्कालिक और दूरगामी परिणाम क्या होगा। यदि सरकार फियेट मुद्रा की आपूर्ति को बढ़ाती है, तो उसका पहला असर वही होगा जिसकी बात मार्क्स ने किसी भी प्रकार की मुद्रा की आपूर्ति में बढ़ोत्तरी के सन्दर्भ में की थी। यदि ऐसा होता है तो इसका पहला असर यह होगा कि औसत ब्याज़ दर में कमी आयेगी और मुद्रा पूँजी की माँग बढ़ेगी क्योंकि "पूँजी की कीमत" कम हो गयी। वजह यह कि मुद्रा की जो मात्रा मालों के संचरण के लिए आवश्यक है वह मालों के संचरण में जायेगी और बाकी पिण्डों (hoards) के रूप में संचित होगी। साथ ही, यह प्रभावी माँग को भी तात्कालिक तौर पर बढ़ायेगा और इस रास्ते भी निवेश की दर को बढ़ावा देगा। लेकिन इसकी एक सीमा होती है। वह सीमा क्या है? कींसवादियों

(पेज 17 पर जारी)

स्वर्ण असमर्थित कागज़ी मुद्रा (फियेट मुद्रा) के विशिष्ट मार्क्सवादी नियम

(पेज 16 से आगे)

के अनुसार, पूँजीवादी सरकार तब तक मुद्रा की आपूर्ति को बढ़ाती रह सकती है, जब तक कि समूची कार्यशक्ति को अर्थव्यवस्था में सोख नहीं लिया जाता। यानी, निजी सेक्टर व सरकारी सेक्टर (जिसे कींसवादी व उत्तर-कींसवादी 'आखिरी सहारे वाला नियोक्ता' या 'Employer of the Last Resort (ELR)' कहते हैं) द्वारा जब तक समस्त या लगभग समस्त श्रम आपूर्ति को सोख नहीं लिया जाता, तब तक मुद्रा आपूर्ति को बढ़ाने से मुद्रा के मूल्य पर फ़र्क नहीं पड़ेगा और महँगाई में कोई बढ़ोत्तरी नहीं होगी। जब यह मंज़िल नज़दीक आती है तो मज़दूरी की दर बढ़ती जाती है, मुनाफ़े की दर घटती जाती है, निवेश की दर घटती जाती है, महँगाई की दर बढ़ती जाती है। लेकिन जब तक अर्थव्यवस्था पूर्ण रोज़गार के आस-पास न पहुँचे तब तक सरकार बिना चिन्ता मुद्रा की आपूर्ति को बढ़ाती रह सकती है और बजट घाटे की नीति पर अमल करती रह सकती है। यानी, कींसवादियों के अनुसार, अन्तिम सीमा है श्रम आपूर्ति की सीमा।

लेकिन वास्तव में यह श्रम आपूर्ति नहीं होती है जो कि मुद्रा आपूर्ति के लिए सीमा का काम करती है, जिसके बाद मुद्रा की आपूर्ति महँगाई को बढ़ावा देती है। वजह यह है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था अपनी आन्तरिक गति से ही बेरोज़गारों की एक फ़ौज को क़ायम रखती है, जो कई कारणों से उसके लिए अनिवार्य है। पहला कारण यह है कि यह मज़दूरों के पक्ष को सर्वहारा वर्ग और पूँजीपति वर्ग के वर्ग संघर्ष में कमज़ोर रखता है, उन्हें अनुशासित करने में पूँजीपति वर्ग की मदद करता है। दूसरा, पूँजी के आवयविक संघटन के बढ़ने की नैसर्गिक प्रवृत्ति के साथ बेरोज़गारों की तादाद लगातार पैदा होती ही रहती है। "और तीसरा कारण यह है कि पूँजीवादी उत्पादन प्रकृति से ही विस्तारित पुनरुत्पादन होता है इसलिए पूँजीवाद को बेरोज़गारों की एक रिज़र्व आर्मी अनिवार्य रूप से चाहिए होती है।" इसलिए पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में आम तौर पर पूर्ण या लगभग पूर्ण रोज़गार की कोई स्थिति आ ही नहीं सकती है। कींस के अनुसार, पूर्ण रोज़गार की स्थिति के क़रीब पहुँचने पर ही महँगाई बढ़ती है। लेकिन 1970 के दशक में बेरोज़गारी और महँगाई दोनों के एक साथ चरम पर पहुँचने के साथ कींस का यह सिद्धान्त ग़लत सिद्ध हो गया।

यदि श्रम आपूर्ति सीमा नहीं है तो वह सीमा क्या है जिसके बाद मुद्रा की आपूर्ति के बढ़ने के साथ महँगाई का बढ़ना अवश्यम्भावी हो जाता है? मार्क्सवादी दृष्टिकोण से यह मुनाफ़े की औसत दर है जो इसके लिए अन्तिम सीमा का काम करती है। वजह यह है कि पूँजीपति मुनाफ़े के लिए निवेश करता है, लोगों को रोज़गार देने के लिए नहीं। यह दीगर बात है कि बिना श्रमशक्ति ख़रीदे वह मुनाफ़ा नहीं हासिल कर सकता क्योंकि बेशी मूल्य समेत समस्त मूल्य केवल श्रम से ही पैदा हो सकता है। लेकिन श्रमिकों को नौकरी देना उसका मक़सद नहीं है। मुद्रा की आपूर्ति बढ़ने के कारण ब्याज़ दर घटती है, उद्यमी मुनाफ़े की दर बढ़ती है, मुद्रा पूँजी की माँग बढ़ती है, निवेश की दर बढ़ती है और वृद्धि दर बढ़ती है। निवेश की दर के बढ़ने के साथ पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा क्षमता का उपयोग (utilization of capacity) अधिकतम सम्भव बढ़ता है। **लेकिन अर्थव्यवस्था की अधिकतम वृद्धि दर क्या होती है?**

अधिकतम वृद्धि दर तब हासिल होती है जब समूचा मुनाफ़ा पुन:निवेशित होता है। मुनाफ़े की निरपेक्ष मात्रा को मुनाफ़े की औसत दर ही निर्धारित करती है। मुनाफ़े की औसत दर वह अधिकतम सीमा है, जिस तक निवेश की दर को बढ़ाया जा सकता है। जब कोई अर्थव्यवस्था इस सीमा के नज़दीक तक पहुँचती है, केवल तभी मुद्रा की आपूर्ति का बढ़ना अपने आप में महँगाई के बढ़ने का कारण बनता है, यानी कि निरपेक्ष कीमतों के आम स्तर के बढ़ने का कारण बनती है। **यानी, अपने आप में, मुद्रा की आपूर्ति की मात्रा महँगाई की दर को ढाँचागत तौर पर निर्धारित नहीं करती है, बल्कि यह मुनाफ़े की औसत दर की गति है जो ढाँचागत तौर पर और दूरगामी रूप में आम तौर पर निरपेक्ष कीमतों के आम स्तर के उतार-चढ़ाव को संचालित करती है।**

कहने की आवश्यकता नहीं है कि यहाँ हम ढाँचागत कारकों की बात कर रहे हैं जो लम्बी दूरी में कीमतों की गति को निर्धारित करते हैं। तात्कालिक तौर पर, फियेट मुद्रा की आपूर्ति में बढ़ोत्तरी, जमाखोरी, आपूर्ति श्रृंखलाओं में बाधाएँ पैदा होना, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की आन्तरिक अराजकता के कारण कुछ विशेष मालों की कीमतों में उतार-चढ़ाव, आदि भी महँगाई की दर को बढ़ा या घटा सकती हैं। **मज़दूर वर्ग के वर्ग संघर्ष के कमज़ोर होने के कारण और संकट के दौर में बेरोज़गारी के बढ़ने के कारण औसत मज़दूरी के श्रमशक्ति के मूल्य से अधिक नीचे जाने के कारण विशेष तौर पर मेहनतकश वर्गों के लिए भी महँगाई में बढ़ोत्तरी हो सकती है। इसके अलावा, पूँजीवादी राज्यसत्ता द्वारा बुर्जुआ राजनीतिक वर्ग के ऐशो-आराम और पूँजीपति वर्ग को ऋणों से छुटकारे, रियायती दरों पर संसाधनों को सौंपे जाने के कारण होने वाले घाटे को अप्रत्यक्ष करों का बोझ बढ़ाकर पूरा किये जाने की नीतियों के कारण भी महँगाई की दर में वृद्धि आ सकती है। आज हमारे देश में आम मेहतनकश जनता के लिए महँगाई के सबसे प्रमुख कारण उपरोक्त दो कारण हैं जिनका हमने ज़िक्र किया है।** लेकिन इन तात्कालिक कारणों के कारण छोटी दूरी में कीमतों में होने वाले उतार-चढ़ाव को भी सुसंगत तरीके से तभी समझा जा सकता है जबकि कीमतों के सामान्य स्तर में ढाँचागत तौर पर और लम्बी दूरी में होने वाले परिवर्तनों के पीछे काम करने वाले बुनियादी कारणों को समझा जाये।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि मार्क्स द्वारा उद्घाटित मुद्रा के नियम और कुछ नहीं बल्कि मूल्य के श्रम सिद्धान्त का ही विस्तार हैं। इन नियमों के ज़रिये मार्क्स ने अपने युग की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के दौर में अस्तित्व में आये मुद्रा के रूपों का विश्लेषण किया और दिखलाया कि मुद्रा के इन रूपों के मूल्य को किस प्रकार मूल्य के श्रम सिद्धान्त द्वारा ही व्याख्यायित किया जा सकता है। मार्क्स द्वारा उद्घाटित इन्हीं मौद्रिक नियमों के विस्तार के आधार पर ही आज की फियेट मुद्रा को भी समझा जा सकता है। निश्चित तौर पर, स्वर्ण-मुद्रा से स्वर्ण-मुद्रा के प्रतिनिधियों तक संक्रमण में, स्वर्ण-मुद्रा के इन प्रतिनिधियों से "अपरिवर्तनीय" कागज़ी मुद्रा तक संक्रमण में और फिर स्वर्ण-समर्थित "अपरिवर्तनीय" कागज़ी मुद्रा से फियेट मुद्रा तक संक्रमण में मुद्रा के मार्क्सवादी सिद्धान्त ने अपने आपको विकसित किया और दिखलाया कि ये नये मौद्रिक रूप भी रिकार्डो के परिमाण सिद्धान्त, या नैप, इनेस आदि जैसे चार्टलिस्ट मौद्रिक सिद्धान्तकारों (जो मानते थे कि राज्यसत्ता ही मुद्रा को पैदा करती है और उसका काम केवल संचरण का माध्यम होना है), या कींसवादी व उत्तर-कींसवादी सिद्धान्तकारों की व्याख्या द्वारा नहीं समझे जा सकते। इन सभी सिद्धान्तों का एक अनैतिहासिक व अवैज्ञानिक नज़रिया है जो मुद्रा के उद्भव को माल उत्पादन के इतिहास में नहीं तलाशता या फिर यह मुद्रा को केवल संचरण के माध्यम के रूप में देखता है और यह नहीं बता पाता कि वह संचरण का माध्यम बनती किस प्रकार है। इसलिए फियेट मुद्रा के दौर में भी मुद्रा की आपूर्ति केवल औपचारिक व रूपगत धरातल पर बहिर्जनित (exogenous) होती है, जिसे राज्यसत्ता का मौद्रिक प्राधिकार सैद्धान्तिक तौर पर मनमाने रूप में तय कर सकता है। सारत:, फियेट मुद्रा के दौर में भी, मुद्रा की आपूर्ति अन्तर्वस्तु के धरातल पर अन्तर्जनित (endogenous) ही होती है। एक सीमा के बाद इसके अधिक मात्रा में जारी होने पर मालों के मूल्य के बरक्स इसके मूल्य का ह्रास और निरपेक्ष कीमतों के सामान्य स्तर में बढ़ोत्तरी ठीक इसी बात को सिद्ध करती है न कि इसके विपरीत को।

हम पाठकों से आग्रह करेंगे कि आगे मुनाफ़े, मुनाफ़े की औसत दर व उत्पादन की कीमतों के निर्माण, क्रेडिट मुद्रा के पैदा होने की प्रक्रिया के बारे में मौजूदा रचना में पढ़ने के बाद वापस आकर एक बार फिर से इस परिशिष्ट को पढ़ें। इससे फियेट मुद्रा को समझने में उन्हें और भी ज़्यादा आसानी होगी क्योंकि मुद्रा का यह रूप व्यवस्थित तौर पर और अपने विशिष्ट पूँजीवादी स्वरूप में पूँजी संचय के एक निश्चित मंज़िल पर पहुँचने के बाद ही अस्तित्व में आता है।

(अगले अंक में जारी)

मज़दूरों को इतिहास क्यों जानना चाहिए?

(पेज 12 से आगे)

तरह महज़ आर्थिक कारकों से प्रस्थान करके आप ऐतिहासिक घटनाओं का विश्लेषण नहीं कर सकते। इसके साथ ही मार्क्सवाद को आर्थिक नियतत्ववादी समझदारी तक अपचयित करने की बात से वे इन्कार करते हैं। वे कहते हैं कि मार्क्सवाद उस आर्थिक नियतत्ववाद से बहुत दूर है जिसका आरोप मार्क्सवाद के विरोधी अक्सर उस पर लगाते हैं। वह ऐतिहासिक घटनाओं को समग्रता में देखते थे। उन्होंने मार्क्सवादी पद्धत्ति का बेहतरीन इस्तेमाल कर दिखलाया कि किस तरह से सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और धार्मिक कारक पलटकर आर्थिक मूलाधार को प्रभावित करते हैं, हालाँकि इतिहास में अन्तत: भौतिक जीवन का उत्पादन व पुनरुत्पादन निर्धारक भूमिका निभाता है।

सटीकता से कहें तो अपने इतिहास लेखन में उन्होंने दिखाया कि किस प्रकार विचारधारात्मक अधिरचना, यानी राजनीति, विचारधारा व संस्कृति की संरचनाएँ पलटकर मूलाधार यानी उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग को प्रभावित करती है। उन्होंने एक तरफ़ सांस्कृतिक आयामों से राजनितिक ढाँचे के सम्बन्ध को स्पष्ट करने की कोशिश की वहीं दूसरी तरफ़ उन्होंने संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर शोध अध्ययन किया। पुरातात्विक कार्य की इतिहास के निर्माण में ज़रूरत को समझते हुए उन्होंने स्वयं बहुत मूल्यवान पुरातात्विक कार्य किये। उन्होंने ज़ोर देकर कहा कि पुरातात्विक सामग्री का एक सार्थक उपयोग केवल तभी सम्भव था जब यह न केवल पारम्परिक लिखित अभिलेखों के साथ बल्कि नृवंशविज्ञान डेटा के साथ भी सहसम्बद्ध हो, जो घटनाओं का एक विस्तृत विश्लेषण प्रदान करता है। पुरातात्विक स्रोतों को वे ख़ुद उस दौर के लोककथाओं, मौखिक परम्पराओं और मिथकों सहित नृशास्त्रीय डेटा से मिलाकर उसे सटीकता और सम्पूर्णता के साथ इस्तेमाल करते थे। किसी भी किस्म के निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले वे पर्याप्त साक्ष्य एकत्र करते थे और उसके आधार पर ही कोई सूत्रीकरण करते थे।

उनके लिए इतिहास कोई एकरेखीय गति में चलने वाली चीज़ नहीं थी बल्कि आन्तरिक अन्तरविरोध से विकसित होती एक ऐसी प्रक्रिया थी जिसमें कई आयाम एक दूसरे में गुँथे-बुने थे।

उन्होंने भारत के इतिहास लेखन में मौजूद साम्प्रदायिकता के अस्तित्व को और अतीत की साम्प्रदायिक और अन्धराष्ट्रवादी व्याख्याओं को सिरे से ख़ारिज किया। इतिहास के एक वैज्ञानिक विश्लेषण में आज भी इतिहास की ऐसी साम्प्रदायिक और अन्धराष्ट्रवादी व्याख्या रुकावट के बतौर मौजूद है और पहले से कहीं ज्यादा मौजूद है। कोसाम्बी के दौर में यानी स्वतन्त्रता के बाद के युग में राजनीतिक ताक़तों द्वारा प्रोत्साहित ऐसी व्याख्याएँ चलन में थीं। आज फ़ासीवादी ताक़तों द्वारा भी इतिहास की इन प्रकार की व्याख्यायों को व्यापक रूप से फैलाया जा रहा है जहाँ अतीत का महिमामण्डन किया जाता है, अन्य देशों से प्राप्त सांस्कृतिक, बौद्धिक, वैज्ञानिक और तकनीकी विचारों को पूर्ण रूप से ख़ारिज किया जाता है, भारतीय इतिहास के मध्ययुगीन काल यानी सल्तनत काल और मुगल काल को पतन के युग के रूप में पेश किया जाता है, मध्ययुगीन काल को साम्प्रदायिक दंगे व फ़साद से भरे काल के रूप प्रस्तुत किया जाता है, जो कि सरासर झूठ है। इतिहास का कोई भी गम्भीर विद्यार्थी जानता है कि भारत में साम्प्रदायिकता अंग्रेज़ों के दौर में औपनिवेशिक सत्ता द्वारा हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की मदद से पैदा की गयी थी। हर वह टकराव जो दो धर्मों के लोगों के बीच होता है, वह दंगा या साम्प्रदायिकता नहीं होता। इस प्रकार के साम्प्रदायिक इतिहासलेखन का जवाब कोसाम्बी ने पहले ही अपने एक समीक्षा लेख 'व्हाट कॉन्स्टीट्यूट्स इण्डियन हिस्ट्री?' (भारतीय इतिहास क्या है?) में दिया था। कोसाम्बी राष्ट्रवादी या साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहों को बढ़ावा देने की अनुमति नहीं देते थे। यह बात विशेष रूप से भारतीय विद्या भवन द्वारा तीन खण्डों में निकाली गयी किताब की उनकी आलोचनात्मक समीक्षा में सामने आयी।

आज भी जिस तरीक़े से फ़ासीवादी सत्ता द्वारा इतिहास को विकृत करके जनता के सामने पेश करने की कोशिश हो रही है ताकि जनता के बीच साम्प्रदायिकता का ज़हर घोला जा सके, ऐसे में कोसाम्बी की लेखनी बेहद महत्त्व रखती है। आज ज़रूरत है आम मेहनतकश जनता को अपने देश के इतिहास के ऐसे वैज्ञानिक विश्लेषणों से परिचित करवाने की ताकि उन्हें फ़ासीवादियों के झूठे प्रचार की ज़द में आने से रोका जा सके। आज ज़रूरत है जनता को सही मायने में तथ्यों और उनके वैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित इतिहास से परिचित करवाने की। कोसाम्बी इस सन्दर्भ में एक बेहद ज़रूरी स्थान रखते हैं और आज इसी रूप में उन्हें याद किया जा सकता है कि उन्होंने हमेशा इतिहास की साम्प्रदायिक और अन्धराष्ट्रवादी व्याख्याओं का अपनी लेखनी के ज़रिये मुकाबला किया और जनता के पक्ष से लिखे गए इतिहास को स्थापित किया।

मोनोपोली बनाम 'बाकी सभी'! अपने वर्ग सहयोगवाद को जायज़ ठहराने के लिए "महासचिव" अजय सिन्हा की नयी "खोजें"!

• अमित

हमारे माटसाब यानी "महासचिव" अजय सिन्हा भविष्य के समाजवादी राज्य का "प्रीमियर" बनाने की जल्दबाज़ी में रोज़ नये-नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं और मार्क्सवाद में नया इज़ाफ़ा करने का दावा ठोंक डालते हैं। यह दीगर बात है कि ऐसा करते हुए वे मूर्खता के नये शिखर को ही प्राप्त करते हैं और बार-बार प्रहसन के पात्र बनते हैं। माटसाब के नये "आविष्कार" के अनुसार अब इस घनघोर इज़ारेदार वित्तीय पूँजी के युग में एक ऐसा परिवर्तन आया है, जिसमें न सिर्फ़ सर्वहारा व समूचा किसान वर्ग (माटसाब के लिए किसान अब वर्ग विभाजित न होकर एकाश्मी समुदाय है!), बल्कि छोटे और मध्यम पूँजीपति वर्ग (जिसे माटसाब बड़ी चालाकी से "दरमियाने वर्ग" का नाम देते हैं!) अब मुक्ति के लिए आवाज़ लगा रहे हैं! अब ये भी आम जनसाधारण का हिस्सा बन चुके है, यानी मित्र वर्ग बन चुके हैं, इसलिए अब समाजवादी क्रान्ति के तीन वर्गों का मोर्चा पुरानी बात हो चुकी है! अब इस मोर्चे में सिर्फ़ मुट्ठीभर इज़ारेदार पूँजीपति घरानों को छोड़ कर, माटसाब सभी छोटे-मध्यम पूँजी वालों का दिल खोलकर स्वागत करेंगे! बस सर्वहारा वर्ग के "एकमात्र" हिरावल यानी हमारे माटसाब और इनकी साँचो-पाँजाओं की टोली उनके बीच जायेगी और उन्हें इस सच्चाई से अवगत करायेंगी कि इस वित्तीय इज़ारेदार पूँजी के साथ उनका कोई भविष्य नहीं है, इसलिए वे सर्वहारा वर्ग के साथ आ जायें और इज़ारेदार वित्तीय पूँजी के ख़िलाफ़ वर्ग मोर्चा बना लें! माटसाब के अनुसार, इससे वित्तीय इज़ारेदार पूँजी की शक्ति भी घटेगी और वह कमज़ोर होगी और फ़िर बहुत जल्द समाजवादी क्रान्ति का रास्ता साफ़ हो जायेगा! वैसे भी "महासचिव" अजय सिन्हा न जाने कब से अपनी पूरी कमिसारियत के समाजवादी सरकार सम्भालने के लिए तैयार बैठे हैं। लेकिन ससुरा दरमियाना पूँजीपति बात ही नहीं मान रहा है और फ़ासीवाद का दामन छोड़ ही नहीं रहा है!

हम देख सकते हैं कि माटसाब के इस नये "आविष्कार" में बुनियादी मार्क्सवादी-लेनिनवादी स्थापनाओं के साथ कुत्सित ज़ोर-ज़बरदस्ती के अलावा कुछ और नहीं है। इसलिए आगे हम इनकी एक-एक "आविष्कार" की पड़ताल करेंगे और इनकी इस नयी मूर्खता की पोल खोलेंगे।

माटसाब अपने इस नये "आविष्कार" को वैधता प्रदान करने के लिए इन शब्दों में भूमिका तैयार करते हैं,

"... श्रमिक और किसान आम जनसाधारण का एक बड़ा हिस्सा है। इसलिए हमें मज़दूरों और किसानों की जगह आम जनसाधारण जनता की बात करनी चाहिए और क्रान्तिकारी मज़दूर और किसान आन्दोलन की जगह क्रान्तिकारी जन-आन्दोलनों की बात करनी चाहिए।"

पहली बात तो यह है कि माटसाब यहाँ बड़ी चालाकी से किसान को एक एकाश्मी समुदाय की तरह प्रस्तुत कर रहे हैं। माटसाब के अनुसार अब धनी किसान और कुलक भी जनता का हिस्सा है, यानी समाजवादी क्रान्ति का मित्र वर्ग है, क्योंकि यह भी अब बड़े कॉरपोरेट पूँजी के हाथों "उत्पीड़ित" हो रहा है! इस प्रश्न पर हम इनके कुतर्कों की पोल पहले भी कई बार खोल चुके हैं। यहाँ माटसाब अजय सिन्हा यह भूमिका बनाने की कोशिश कर रहे हैं कि मज़दूर और किसान के अलावा छोटे और मध्यम पूँजीपति वर्ग भी अब जनसाधारण का हिस्सा बन चुके है! वैसे मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी शब्दावली में आम मेहनतकश जनता (मज़दूर वर्ग, ग़रीब व मँझोले किसानों, तथा शहरी निम्न-मध्यवर्ग तर्था मध्यम मध्यवर्ग) के लिए पहले भी 'जनता', 'जनसमुदाय' व उनके आन्दोलनों के लिए 'जनान्दोलन' शब्द का इस्तेमाल लम्बे समय से होता रहा है, इसमें कुछ नया नहीं है। यानी, माटसाब अजय सिन्हा फालतू में एक नयेपन का दावा ठोंक रहे हैं। जिन बौद्धिक पिग्मियों के पास कहने के लिए नया कुछ नहीं होता, वे ऐसा ही करते हैं। **लेकिन यहाँ माटसाब अजय सिन्हा जो ज़्यादा भयंकर काम कर रहे हैं कि वह 'जनता' या 'जनसमुदायों' की परिभाषा के दायरे में शोषक वर्गों को भी समेट रहे हैं ताकि अपनी वर्ग सहयोगवादी लाइन को वैध ठहरा सकें।** हालाँकि आगे माटसाब इन इरादों को साफ़ तौर पर ज़ाहिर भी करते है

आगे माटसाब लिखते हैं,

"आज की दुनिया में सम्पत्ति हड़पने की अत्यधिक तीव्र लड़ाई यह स्पष्ट करती है कि छोटी और मध्यम पूँजियाँ बड़ी वित्तीय पूँजी के साथ सह-अस्तित्व में क्यों नहीं ज़िन्दा रह सकती हैं, जबकि ये ही पूँजी की दुनिया का संख्यात्मक रूप से सबसे बड़ा हिस्सा हैं। यह बात यह भी स्पष्ट करती है कि क्यों आज आम लोगों की दुनिया में छोटी और मध्यम पूँजियाँ भी शामिल होने को विवश हो रही हैं जिससे दोनों दुनिया आंशिक रूप से एक-दूसरे को ओवरलैप करती हैं। जैसे कि आम जनसाधारण की दुनिया यहाँ दूसरे यानी पूँजी की दुनिया के एक हिस्से, यानी छोटी और मध्यम पूँजियों को समाहित करती है। इस तरह यह साफ़-साफ़ देखा जा सकता है कि आम लोगों की दुनिया यहाँ स्पष्टतः बहुत बड़ी हो जाती है। यह स्पष्ट है कि बड़े वित्तीय शार्कों के प्रभुत्व में चलने वाली पूँजी की दुनिया से छोटी और मध्यम पूँजी का एक बड़ा हिस्सा लोगों की दुनिया में पलायन कर जाने की क़गार पर आ गया है। इस प्रकार पूँजी की दुनिया के प्रमुख वित्तीय पूँजी की शक्ति कमज़ोर हो रही है।"

यहाँ माटसाब स्पष्ट तौर पर खुल कर छोटी-मँझोली पूँजी के समर्थन में आ खड़े हुए हैं और इनको मित्र वर्ग घोषित कर रहे हैं! यानी अब ये भी समाजवादी क्रान्ति के रणनीतिक वर्ग संश्रय के हिस्सेदार होंगे! और माटसाब के अनुसार ऐसा इसलिए होगा क्योंकि अब ये छोटी-मँझोली पूँजी बड़ी वित्तीय पूँजी के साथ अस्तित्वमान नहीं रह सकते(?) और अब इसलिए इनका मेहनतकश जनता के साथ हित साझा है!

यह पूरी तर्क प्रणाली ही अज्ञानतापूर्ण है। निश्चित तौर पर इज़ारेदार पूँजी के युग में पूँजी का संकेन्द्रण और सान्द्रण गुणात्मक रूप से ऊँचे स्तर तक पहुँच जाता है, छोटी पूँजी का बड़ी इज़ारेदार पूँजी के साथ प्रतिस्पर्धा में टिक पाना कठिन हो जाता है और इसका एक हिस्सा तबाह भी हो जाता है। वैसे तो इजारेदारी के दौर के पहले से ही छोटी पूँजियों के एक हिस्से के बरबाद होने की प्रक्रिया जारी रहती है और वास्तव में इज़ारेदारी की मंज़िल स्वयं इसी प्रक्रिया का एक नतीज़ा होती है। यह बात मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का 'क ख ग' जानने वाला कोई भी व्यक्ति जानता है। यह सिर्फ इज़ारेदारी के प्रधान प्रवृत्ति बनने के युग की अभिलाक्षणिकता नहीं है। लेकिन ऐसा कहना कि छोटी पूँजी इज़ारेदार पूँजी के सहअस्तित्व में नहीं रह सकती, बिल्कुल ग़लत और मूर्खतापूर्ण है। इज़ारेदारी कभी भी न तो एकल इज़ारेदारी (absolute single monopoly) में परिवर्तित हो सकती है (जैसा कि माटसाब को लगता है!) न ही छोटी और मध्यम पूँजी को पूरी तरह से ख़त्म कर सकती है। ऐसा इसलिए नहीं हो सकता है क्योंकि, पूँजी के केन्द्रों के केन्द्रीकृत होने की प्रक्रिया के साथ-साथ नये केन्द्रों के जन्म और पुराने केन्द्रों में से कुछ के विघटन की भी प्रक्रिया लगातार चलती रहती है, जैसा कि मार्क्स ने 'पूँजी' के पहले खण्ड में ही स्पष्ट किया है। साथ ही, आज दुनिया के उन देशों का उदाहरण भी इसे स्पष्ट करता है जहाँ इज़ारेदारीकरण की प्रक्रिया सबसे ज़्यादा विकसित हो चुकी है, मसलन, अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी। इज़ारेदार पूँजी के वर्चस्व के साथ ही बहुत से आर्थिक क्षेत्रों में छोटी व मँझोली पूँजियों का बोलबोला है और कई जगहों पर इज़ारेदार पूँजी उन्हें पूरी तरह से नष्ट करने की बजाय सहयोजित भी करती है क्योंकि यह ज़्यादा फ़ायदेमन्द होता है।

दूसरा, पूँजीवादी उत्पादन विस्तारित पुनरुत्पादन की प्रक्रिया है और उत्पादन के नये क्षेत्रों या शाखाओं का पदार्पण भी होता रहता है। इज़ारेदार पूँजी अगर छोटी-मध्यम पूँजी के एक हिस्से को बर्बाद करती है तो पूँजीवादी उत्पादन पद्धति लगातार अपनी नैसर्गिक गति से छोटी व मँझोली पूँजियों को भी पैदा करती रहती है। इसलिए इज़ारेदारीकरण हमेशा एक रुझान के तौर पर मौजूद रहती है और कभी पूर्ण एकाधिकार के चरण में नहीं पहुँच सकती। उदाहरण के लिए, ऑटोमोबाइल सेक्टर में मारुती, होण्डा, सुज़ुकी, मर्सिडीज़ आदि बड़ी पूँजी के साथ, उत्पादन की मल्टी-टीयर (multi-tier) श्रृंखला में नीचे कई सारे छोटे और मध्यम पूँजीपति शामिल होते हैं। इस प्रकार की श्रृंखला का विकास उत्तर-फोर्डवाद के दौर में बड़ी इज़ारेदार पूँजी के लिए भी फ़ायदेमन्द है। इस पर बहुत-से मार्क्सवादी अध्ययन मौजूद हैं, इसके विस्तार में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। पूँजीवादी प्रतिस्पर्धा की वजह से पूँजीवादी विकास और उत्पादन, असमान और अराजकतापूर्ण होता है, और हमेशा गतिमान होता है। इसलिए उत्पादन की उन्नत तकनीक के साथ-साथ अपेक्षाकृत पिछड़ी तकनीक की भी मौजूदगी बनी रहती है। तीसरी बात, इज़ारेदार पूँजी आम तौर पर उत्पादन के सभी क्षेत्रों में और देश स्तर पर समूचे भौगोलिक क्षेत्रों में अकेले मौजूद नहीं रहती है, इसके लिए भी इसे स्थानीय छोटी और मँझोली पूँजी के साथ गठजोड़ की आवश्यकता होती है। इसलिए यह कहना कि अब इज़ारेदार पूँजी के साथ छोटी और मध्यम पूँजी सह-अस्तित्वमान नहीं रह सकती है, यह बेहद मूर्खतापूर्ण बात होगी और हम इसकी उम्मीद माटसाब से ज़रूर कर सकते हैं! वैसे भी यह तर्क पूर्ण इज़ारेदारीकरण के काऊत्स्कीपंथी तर्क की ओर जाता है। इसके अलावा, अगर माटसाब का मतलब किसी वित्तीय-औद्योगिक अल्पतन्त्र का वर्चस्व स्थापित होने से है तो उस सूरत में भी छोटे और मँझोले पूँजीपतियों का पूरा वर्ग कभी समाप्त नहीं हो जाता है। न तो इज़ारेदारी के पूरे युग में किसी उन्नत से उन्नत पूँजीवादी देश में ऐसा हुआ है और न ही ऐसा हो सकता है। यह पूँजीवाद की आन्तरिक गति को न समझने वाला व्यक्ति ही कल्पना कर सकता है। यह पूरा तर्क ही ग़ैर-द्वन्द्वात्मक है और पूँजीवादी उत्पादन पद्धति में जारी अन्तरविरोधी प्रक्रियाओं को नहीं समझ पाता है।

इज़ारेदार पूँजी भी आपस में प्रतिस्पर्धा करती है और कई बार इनकी आपसी प्रतिस्पर्धा में कोई एक इज़ारेदार घराना भी बर्बाद हो जाता है, या फिर बर्बादी का डर बना रहता है। माटसाब के तर्कप्रणाली के अनुसार तो फ़िर इन इज़ारेदार घरानों में से सापेक्षिक रूप से कमज़ोर घराने के साथ भी वर्ग मोर्चा बना लेना चाहिए! इससे तो इज़ारेदारी की शक्ति और भी कमज़ोर होगी और माटसाब के भविष्य के समाजवादी राज्य के "प्रीमियर" बनने का सपना और भी जल्द साकार हो जायेगा! साथ ही कुछ इज़ारेदार पूँजी के अलावा भी कई बड़ी पूँजियाँ भी मौजूद होती है और इनकी भी इज़ारेदार घरानों के साथ बेहद तीख़ी प्रतियोगिता होती है और कई बार इन प्रतियोगिताओं में पिछड़ने की वजह से इनके ऊपर भी तबाही की तलवार लटकती रहती है। फिर माटसाब को इनके साथ भी साझा मोर्चा बनाने से कोई गुरेज़ नहीं करना चाहिए! **जिस तर्क से छोटी व मँझोली पूँजी के साथ रणनीतिक मोर्चा बन सकता है ("क्योंकि वे इजारेदारी के हाथों तबाह हो रही हैं!") उसी तर्क से बरबाद होने वाली तमाम बड़ी पूँजियों के साथ रणनीतिक मोर्चा क्यों नहीं बन सकता है?** दोनों ही उजरती श्रम के शोषक हैं, एक छोटे या मँझोले स्तर पर और एक बड़े स्तर पर! अब मोर्चे का यह आधार तो हो नहीं सकता कि कोई कम मज़दूरों का शोषण करता है तो उसके साथ मोर्चा बन सकता है और कोई अधिक मज़दूरों का शोषण करता है, तो उसके साथ मोर्चा नहीं बन सकता! यह भयंकर मूर्खतापूर्ण परिमाणात्मक तर्क है। **सच यह है कि समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में उजरती श्रम के किसी भी शोषक वर्ग के साथ मोर्चा नहीं बन सकता और वे जनता व जनसमुदायों का अंग नहीं बन सकते, चाहे वे छोटे पैमाने पर श्रम के शोषक हों या बड़े पैमाने के या मँझोले पैमाने के। यह कोई अति-क्रान्तिकारी तर्क नहीं है, जैसा कि अल्प-क्रान्तिकारी हो चुके "महासचिव" अजय सिन्हा को प्रतीत होता है।**

माटसाब, आगे और कहते हैं इन छोटे और मंझोले पूँजी का हित आम मेहनतकशों के साथ साझा है और ये पूँजीपति भी पूँजीवाद से "मुक्ति" की चाहत रखते हैं! माटसाब लिखते हैं:

"बड़ी पूँजी के परिप्रेक्ष्य और छोटी पूँजी के परिप्रेक्ष्य में निहित अन्तर को समझना नितान्त आवश्यक है। आजकल, मुक्ति (emancipation) जनता के बीच सबसे अधिक सुनाई देने वाला शब्द बन चुका है। अब इसका उपयोग न केवल मज़दूर वर्ग

(पेज 19 पर जारी)

मोनोपोली बनाम 'बाकी सभी'! अपने वर्ग सहयोगवाद को जायज़ ठहराने के लिए "महासचिव" अजय सिन्हा की नयी "खोजें"!

(पेज 19 पर जारी)

और मेहनतकशों द्वारा किया जाता है, बल्कि उन लोगों द्वारा भी किया जाता है जो निजी सम्पत्ति और पूँजी के मालिक हैं, लेकिन जो साथ में इज़ारेदार वित्तीय पूँजी की लूट के सामने मालिक के रूप में अपने अस्तित्व को ख़तरे में पाते हैं और इसे शिद्दत से महसूस भी करते हैं। इसलिए, मुक्ति शब्द का अर्थ अब पूँजी द्वारा आरोपित मज़दूरी प्रथा की दासता और शोषण की जंजीरों से मुक्ति के संदर्भ में अपने पुराने मज़दूर वर्गीय अर्थ की गूँज तक सीमित नहीं रह गया है। इसके अतिरिक्त अब इसने छोटे-मँझोले पूँजीपतियों के बीच बड़ी पूँजी की एकाधिकारी लूट से मुक्ति के मामले में भी, हालाँकि बिना मज़दूरी प्रथा की गुलामी और आदमी द्वारा आदमी के शोषण को ख़त्म किए बिना ही प्रासंगिकता हासिल कर ली है।"

'गजब खोपड़ी दोन किहोते!' आगे माटसाब कहते हैं:

"लेकिन अब यह भी असम्भव है। सच तो यह है कि दरमियानी वर्ग भी तभी मुक्त हो सकते हैं जब पूँजीवादी व्यवस्था को ख़त्म कर दिया जाये..."

यानी माटसाब अब कुलकों के साथ-साथ, पटना के ठेकेदारों, एफ़डीआई से मार खा रहे बड़े दुकानदारों, मायापुरी-नारायणा के फैक्ट्री मालिकों को भी मुक्ति दिलायेंगे और उनके बीच भी समाजवाद का नारा बुलन्द करेंगे, जिनके बीच इनका संगठन कुछ कवायदें करता रहा है! कहा जा सकता है कि माटसाब ने मार्क्सवाद में नया इज़ाफ़ा करके यह नया नारा दिया है, "दुनिया के कुलकों, ठेकेदारों, व्यापारियों, छोटे-मँझोले फैक्ट्री मालिकों, एक हो!" माटसाब का तर्क है कि अब चूँकि ये छोटे और मध्यम पूँजीपति भी इज़ारेदार वित्तीय पूँजी की मार से त्रस्त है इसलिए इनका हित जनता के साथ साझा है। और ये भी मुक्ति की चाहत रखते हैं, और इन्हें मुक्ति सिर्फ़ समाजवाद में मिल सकती है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार ये समाजवाद में कुलकों को "उचित दाम" दिलायेंगे!

"महासचिव" अजय सिन्हा ने वर्ग संश्रय की मार्क्सवादी-लेनिनवादी समझदारी, यानी मित्र वर्ग और शत्रु वर्ग की परिभाषा को ही बदल दिया है! सवाल यह है कि समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में छोटे और मँझोले पूँजीपति वर्ग का हित आम मेहनतकश जनता के साथ साझा कैसे हो सकता है, जो खुद ही उजरती श्रम के शोषक हैं? इन पूँजीपतियों का अस्तित्व ही श्रम के शोषण पर टिका हुआ है। आम मेहनतकश जनता के अतिरिक्त श्रम की लूट ही इनके मुनाफ़े का एकमात्र स्रोत है। यह पूँजीपति वर्ग समाजवाद के नारे पर साथ क्यों आयेगा? क्या समाजवाद में इन्हें इनके उत्पादन के साधनों से बेदखल नहीं किया जायेगा? क्या इन्हें श्रम शक्ति ख़रीदने की आज़ादी होगी? इसका जवाब है, बिलकुल भी नहीं! फ़िर माटसाब इनको समाजवाद के लिए कैसे मनायेंगे, इसका जवाब तो सिर्फ़ वही दे सकते हैं! यह सच है कि छोटा और मँझोला पूँजीपति बड़े और इज़ारेदार पूँजीपति वर्ग से एक अन्तरविरोध रखता है। लेकिन मज़दूर वर्ग से उसके दुश्मनाना अन्तरविरोध और उसकी नफ़रत के बरक्स यह अन्तरविरोध दोस्ताना अन्तरविरोध है। इन अन्तरविरोध की पहचान करना कोई नयी बात नहीं है। मार्क्स ने ही इस अन्तरविरोध को रेखांकित कर दिया था और स्पष्ट किया था कि समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में बड़ी पूँजी से छोटी व मँझोली पूँजी के अन्तरविरोध के आधार पर जनता के वर्गों के मोर्चे पर कोई फ़र्क नहीं पड़ता है। छोटे पूँजीपतियों की एक विचारणीय तादाद की नियति पूँजीवादी व्यवस्था में तबाही होती है, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि एक छोटे या मँझोले पूँजीपति के तौर पर वह समझाने-बुझाने पर सर्वहारा वर्ग का मित्र वर्ग बन जायेगा! ऐसी प्रचण्ड मूर्खतापूर्ण बात की उम्मीद आप पटना के दोने किहोते यानी "महासचिव" श्री अजय सिन्हा से ही कर सकते थे।

पूँजीवादी व्यवस्था के केन्द्र में मुनाफ़ा और प्रतिस्पर्धा है। यहाँ सभी छोटे-बड़े पूँजीपति आपस में एक दूसरे से तीखी और गलाकाटू प्रतियोगिता में रहते हैं। और प्रतियोगिता के ज़रिए ही ये एक वर्ग के रूप में संघटित होते हैं। लेकिन ये प्रतियोगिता इनके बीच मित्रतापूर्ण अन्तरविरोध को ही अभिव्यक्त करता है। इनका आपसी अन्तरविरोध शत्रुतापूर्ण नहीं है। शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध का समाधान किसी सामाजिक व राजनीतिक क्रान्ति के ज़रिये समाज विकास की एक ऊँची मंज़िल में ही हो सकता है। जबकि पूँजीपति वर्ग (समूचा पूँजीपति वर्ग, इज़ारेदार, गैर-इज़ारेदार, बड़ा, छोटा और मध्यम) और सर्वहारा वर्ग के बीच शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध होता है! क्योंकि इनके अन्तरविरोध का हल पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे में सम्भव नहीं है। इसका हल समाजवादी क्रान्ति के ज़रिये ही हो सकता है, जब उत्पादन के साधनों यानी खेत-खलिहान, खान-खदान, कल-कारख़ाने हर चीज़ से निजी पूँजीवादी मालिकाना का ख़ात्मा कर इसे उत्पादक वर्गों की सामूहिक सम्पत्ति घोषित कर दिया जाता है, श्रमशक्ति का माल के रूप में अस्तित्व ख़त्म कर दिया जाता है, और जनता के सामूहिक आवश्यकतानुसार योजनाबद्ध उत्पादन नियोजित किया जाता है। **इसलिए यह स्पष्ट है कि समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में पूँजीपति वर्ग का कोई भी हिस्सा मित्र वर्ग नहीं हो सकता, चाहे उनके बीच आपसी अन्तरविरोध कितना भी तीखा क्यों न हो!**

माटसाब का एक और शौक़ है। वह है मूर्खतापूर्ण और मनमाने तरीके से नयी-नयी राजनीतिक शब्दावली गढ़ना।माटसाब ने नया शब्द गढ़ा है, "क्रान्तिकारी अवसरवाद!" उनके अनुसार इसकी अन्तर्वस्तु "लेनिनवादी" है!

आइये देखते हैं माटसाब स्वयं क्या फ़रमाते हैं:

"यह हमारे सामने एक ओर क्रान्तिकारी अवसरवादिता तथा दूसरी ओर सुधारवादी अवसरवाद के बीच में से किसी एक का चयन करने का प्रश्न प्रस्तुत करता है। क्रान्तिकारी अवसरवाद, लेनिनवाद में स्वाभाविक रूप से अन्तर्निहित है, जो हर क्रान्तिकारी अवसर और सम्भावना, जो भले ही अभी उभर ही रहा हो, या पूरी तरह नहीं उभरा हो, को एक ठोस क्रान्तिकारी ताकत व शक्ति के रूप में बदलना चाहता है। जब सम्पत्तिवान वर्ग (बेशक जो कम सम्पत्ति के स्वामी हैं) दैत्याकार वित्तीय पूँजी के आतंक से आतंकित होते हैं, तो हमें उनसे न तो अति-क्रान्तिकारी तिरस्कार भाव के साथ, और ना ही उनके प्रति सुधारवादी मीठी ज़ुबान के साथ बात करनी चाहिए। यदि पूँजी के तर्क को अपना अन्तिम मार्ग लेने के लिए छोड़ दिया जाता है और पूँजीवादी संचय के नियमों पर आधारित मौजूदा व्यवस्था को ख़त्म नहीं किया जाता है, तो क्यों नहीं उनके मुँह पर यह साफ़-साफ़ कहा जाना चाहिए कि वे एक निश्चित विनाश की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

माटसाब आमतौर पर चलने वाली राजनीतिक शब्दावली "क्रान्तिकारी रणकौशल" के बजाय अपने गढ़े हुए शब्द "क्रान्तिकारी अवसरवादिता" का इस्तेमाल करते हैं और इनके हिसाब से यह लेनिनवाद में स्वाभाविक रूप से अन्तर्निहित है! लेनिनवाद के बारे में इस शब्द "क्रान्तिकारी अवसरवाद" का इस्तेमाल भी आम तौर पर काउत्स्की व गॉर्टर जैसे लोगों ने लेनिन के रणकौशल को ग़लत ठहराने के लिए किया है (जब गॉर्टर लेनिन की पुस्तक "'वामपंथी" कम्युनिज्म: एक बचकाना मर्ज़' की आलोचना कर रहे थे) या फिर कुछ अन्य ग़ैर-मार्क्सवादी प्रेक्षकों ने लेनिन के सर्वहारा यथार्थवादी रणकौशल के लिए एक नकारात्मक शब्द के तौर पर इसका इस्तेमाल किया है। यह देखिये, स्वयं लेनिन के बोल्शेविकों व लेनिनवादियों के लिए इस शब्द के इस्तेमाल के बारे में क्या विचार थे:

"बोल्शेविकों को उसूलों से रिक्त लोगों के तौर पर पेश करने के लिए, उन्हें "क्रान्तिकारी अवसरवादियों" (यह शब्द काउत्स्की ने अपनी पुस्तक में कहीं इस्तेमाल किया है, मैं भूल गया हूँ, किस सन्दर्भ में) के रूप में पेश करने के लिए, श्रीमान काउत्स्की ने अपने जर्मन पाठकों से यह तथ्य छिपा लिया है कि इन थीसीज़ में "बार-बार दुहरायी गयी" घोषणाओं के बारे में सीधा सन्दर्भ है।" (लेनिन, संग्रहीत रचनाएँ, खण्ड-28, पृ 266)

यानी, स्वयं लेनिन ने अपने सिद्धान्तों व उन्हें मानने वालों, यानी बोल्शेविकों या लेनिनवादियों के लिए इस शब्द के इस्तेमाल को ग़लत ठहराया है। मतलब, माटसाब अजय सिन्हा एक बार फिर से कहीं से चौर्यलेखन करते हुए पकड़े गये हैं। दरअसल, इस शब्द 'क्रान्तिकारी अवसरवाद' का कुछ समय पहले अन्तोनियो नेग्री ने 'व्यू प्वाइण्ट' पत्रिका में लेनिन के रणकौशल के सन्दर्भ में किया था, हालाँकि नेग्री इस शब्द के इस्तेमाल को अस्वीकार ही कर रहे हैं; इसी प्रकार कई अन्य नववामियों ने लेनिन पर इस शब्द को आरोपित किया है। इन्हीं में से किसी के लेख से "महासचिव" अजय सिन्हा ने चेंपा-चेंपी कर दी है माने कि चौर्य-लेखन कर दिया है और मूल स्रोत तक जाकर यह नहीं जाँचा कि स्वयं लेनिन ने इस शब्द के अपने उसूलों या रणकौशल के लिए विचारधारात्मक शत्रुओं द्वारा इस्तेमाल के बारे में क्या कहा है। इसके पहले भी हम "महासचिव" अजय सिन्हा को एक बार इण्टरनेट बाबा से चौर्यलेखन करते हुए पकड़ चुके हैं! लेकिन शर्म इन्हें आती नहीं! इसीलिए हमने इनको पहले भी समझाया था कि इण्टरनेट से चोरी करके नहीं लिखना चाहिए क्योंकि वहाँ अजय सिन्हा से बड़े-बड़े गुरू घण्टाल बैठे हुए हैं! बहरहाल, यहाँ "महासचिव" अजय सिन्हा इस शब्द "क्रान्तिकारी अवसरवादिता" का इस्तेमाल कर छोटी और मँझोली पूँजी के साथ वर्ग संश्रय करने का जुगाड़ लगा रहे हैं! मतलब, इस शब्द का इस्तेमाल कर काउत्स्की और गॉर्टर ने अपनी विचारधारात्मक-राजनीतिक करामातें की थीं और अब इस शब्द का इस्तेमाल कर अजय सिन्हा अपनी मूर्खतापूर्ण कलाबाज़ियाँ कर रहे हैं। कोई काउत्स्कीपन्थी ही बात को समझने में चूक कर सकता है कि वर्ग संश्रय क्रान्ति के कार्यक्रम और रणनीति के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। इसे महज़ "अवसरवादिता" बताना और इसको सही साबित करने के लिए "क्रान्तिकारी" और "लेनिनवादी" शब्द के साथ जोड़ देना, सिर्फ़ अपनी मूर्खता को सही ठहराने के अलावा और कुछ नहीं है! अगर माटसाब का पर्याय रणकौशल था, तो भी रणनीतिक वर्ग संश्रय का मसला रणकौशल का मसला नहीं होता है। **दरअसल माटसाब "क्रान्तिकारी अवसरवादिता" नहीं बल्कि "मूर्खतापूर्ण अवसरवादिता" के शिकार हैं!**

माटसाब और इनका संगठन पीआरसी सीपीआई(एमएल) और इनकी यूनियन इफ्टू (सर्वहारा) पटना के लेबर चौक, दिल्ली के मायापुरी इलाक़े में मज़दूरों को संगठित करने की क़वायदों में लगी हैं। *लेकिन सवाल तो यह है कि यहाँ के छोटे-मँझोले फैक्ट्री मालिक, ठेकेदार जिनके ख़िलाफ़ ये मज़दूरों को संगठित कर रहे हैं, वे तो बेचारे बड़ी वित्तीय पूँजी के मार से त्रस्त हैं और अब आम जनता का हिस्सा बन चुके है। इसका मतलब तो यह हुआ कि पटना के दोन किहोते श्री अजय सिन्हा व इनके साँचो पाँजाओं की बच्चा पार्टी इन मज़दूरों को अपने रणनीतिक वर्ग-मित्रों के ख़िलाफ़ ही भड़का रहे हैं! फ़िर तो समाजवादी क्रान्ति कैसे सम्भव होगी और माटसाब तो भविष्य के समाजवादी राज्य की अपनी भावी कमिसारियत को लेकर बैठे ही रह जायेंगे?* क़ायदे से इनको तो इन मज़दूरों के बीच अपने फैक्ट्री मालिकों के साथ एकता बनाने का आह्वान करना चाहिए! हाँ, ये अलग बात है कि ऐसा करते ही मज़दूर इन्हें बहुविध और रुचिकर प्रकार की प्रतिक्रियाएँ दे सकते हैं जो 'जनसाधारण' में हश्र-मिश्रित आश्चर्य का कौतुहल का कारण बन सकती हैं और जिनमें से कुछ माटसाब व उनकी टोली के लिए हानिकारक भी हो सकती हैं! दरअसल, जनता पटना के दोन किहोते श्री अजय सिन्हा और इनके साँचो पाँजाओं की टोली के समान मूर्ख नहीं होती है। वह तब भी सहज वर्ग बोध से अपने वर्ग शत्रु को पहचानती है जब उसके पास कोई राजनीतिक नेतृत्व, विकल्प और कार्यक्रम नहीं होता है।

यह है माटसाब और इनके "यथार्थ" मूर्खमण्डली की राजनीतिक दिवालियापन और अवसरवादिता की हक़ीक़त। जैसा की हम पहले भी जेनुइन लेकिन असावधान साथियों को चेताते रहे हैं कि इन राजनीतिक जोकरों की वैचारिक कलाबाज़ियों और बन्दरकुद्दियों को समझना और इनसे सुरक्षित दूरी बनाये रखना आवश्यक है। बहुत-से साथियों को यह बात समझ में भी आयी है, जो कि खुशी की बात है।

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2023-2025
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

उड़ीसा का ट्रेन हादसा : लोगों की जान से खेलती मोदी सरकार

बढ़ती रेल दुर्घटनाओं का ढाँचागत कारण है निजीकरण, छँटनी और ठेकाकरण की नीतियाँ और रेलवे कर्मचारियों पर बढ़ता काम का अमानवीय बोझ

उड़ीसा में तीन ट्रेनों के बीच दो जून की शाम को हुए दर्दनाक हादसे में कम से कम 260 लोगों की मौत हो गयी। घायलों की संख्या सैकड़ों में है। पिछले 20 वर्षों में यह सबसे भयंकर रेल दुर्घटना है। मोदी सरकार ने मृतकों के परिवारों को 10 लाख रुपये देकर अपना पल्ला झाड़ लिया है। मोदी ने घटनास्थल पर जाकर जो अश्लील नौटंकी की, उसे सबने देखा। लेकिन सवाल यह है कि इस हादसे के लिए कौन ज़िम्मेदार है? निश्चित तौर पर, विशेष स्वतन्त्र जाँच दल द्वारा यह बात सामने आयेगी ही कि किसी स्तर पर मानवीय चूक हुई है। बात वहीं समाप्त हो जायेगी। लेकिन इन मानवीय चूकों की बढ़ती बारम्बारता के पीछे कई ढाँचागत कारण ज़िम्मेदार हैं। इसलिए सवाल उन ढाँचागत कारकों का है।

नवउदारवादी नीतियों के लागू होने के बाद के 32 वर्षों में और ख़ास तौर पर मोदी सरकार के पिछले 9 वर्षों में, रेलवे में नौकरियों को घटाया जा रहा है, जो नौकरियाँ हैं उनका ठेकाकरण और कैज़ुअलीकरण कर दिया गया है। नतीजतन, ड्राइवरों पर काम का भयंकर बोझ है। कई जगहों पर ड्राइवरों को गाड़ियाँ रोककर झपकियाँ लेनी पड़ रही हैं क्योंकि 18-18, 20-20 घण्टे लगातार गाड़ी चलाने के बाद बिना सोये दुर्घटना की सम्भावना बढ़ जाती है। मार्च, अप्रैल और आधी मई में 12 घण्टे से ज़्यादा काम करने वाले इंजन ड्राइवरों की संख्या करीब 35 प्रतिशत थी। इसी प्रकार, लगातार 6-6 दिन रात की ड्यूटी करवाये जाने के कारण भी रेल दुर्घटनाओं की संख्या बढ़ रही है। 2021-22 से 2022-23 के बीच नुकसानदेह रेल दुर्घटनाओं की संख्या में 37 प्रतिशत की भारी बढ़ोत्तरी हुई। मौजूदा साल में ही मामूली ट्रेन दुर्घटनाओं की संख्या 162 थी, जिनमें से 35 में काम के ज़्यादा बोझ के कारण होने वाली 'सिग्नल पास्ड ऐट डेंजर' वाली चूकें थीं। कई बार ड्राइवरों को बिना शौचालय विराम के 10-10 घण्टे तक काम करना पड़ता है।

तमाम समझौतापरस्त यूनियनें जो कि इस या उस चुनावी पार्टी से जुड़ी हैं, यह मसला उठाती ज़रूर हैं, मगर कभी इस पर कुछ करती नहीं हैं। इसी प्रकार सिग्नल प्रणाली में लगे स्टाफ़ को भी या तो बढ़ाया ही नहीं गया या पर्याप्त रूप में नहीं बढ़ाया गया। नतीजतन, वहाँ भी काम के बोझ के कारण त्रुटियों और चूकों की सम्भावना बढ़ जाती है। यही हाल ग्रुप सी व डी के रेलवे कर्मचारियों का भी है। 2015 से 2022 के बीच ग्रुप सी व डी के 72,000 पदों को रेलवे ने समाप्त कर दिया। इन्हीं श्रेणियों में इस समय रेलवे में करीब 3 लाख पद ख़ाली हैं। एक ओर रेलवे स्टेशनों, ट्रैकों की संख्या बढ़ रही है, वहीं पदों को कम कर और ठेकाकरण कर निजी कम्पनियों को मुनाफ़ा कूटने की आज़ादी दी जा रही है और रेलवे कर्मचारियों पर बोझ को बढ़ाया जा रहा है। यह मोदी सरकार की नीतियों का ही नतीजा है। 2021 से रेलवे ने हर तीसरे दिन एक रेलवे कर्मचारी की नौकरी ख़त्म की है। 2007-08 में रेलवे में 13,86,011 कर्मचारी थे। लेकिन आज यह संख्या 12 लाख के करीब आ गयी है। यानी करीब पौने दो लाख नौकरियों की कटौती। वहीं 2009 से 2018 के बीच रेलवे में ख़ाली होने वाले करीब 3 लाख पदों को नहीं भरा गया है। मोदी सरकार आने के बाद, 2014 में 60754 लोग रिटायर हुए लेकिन भर्ती हुई 31805 की। उसी प्रकार 2015 में 59960 कर्मचारी रिटायर हुए, लेकिन भर्ती हुई मात्र 15,191 की। 2016 में 53,654 सेवानिवृत्तियां हुईं जबकि भर्तियाँ हुईं मात्र 27,995। यही हाल उसके बाद के हर साल का भी रहा है। यह वही मोदी सरकार है जिसने हर साल 2 करोड़ रोज़गार देने का वायदा किया था।

यानी, एक ओर रेलवे का नेटवर्क विस्तारित किया गया है, ट्रेनों व स्टेशनों की संख्या बढ़ी है, वहीं दूसरी ओर रेलवे में कर्मचारियों की संख्या को लगातार कम करके मोदी सरकार मौजूदा कर्मचारियों पर काम के बोझ को भयंकर तरीके से बढ़ा रही है। ऐसे में, दुर्घटनाओं और त्रासदियों की संख्या में बढ़ोत्तरी की सम्भावना नैसर्गिक तौर पर बढ़ेगी ही। ऐसी जर्जर अवरचना के भीतर मोदी सरकार बुलेट ट्रेन के शेखचिल्ली के ख़्वाब दिखा रही है, तो इससे बड़ा भद्दा मज़ाक और कुछ नहीं हो सकता। तात्कालिक तौर पर निश्चय ही ऐसी दुर्घटनाओं के लिए किसी व्यक्ति की चूक या ग़लती ज़िम्मेदार नज़र आ सकती है। लेकिन यह एक व्यवस्थागत समस्या है जिसके लिए मौजूदा मोदी सरकार की छँटनी, तालाबन्दी और ठेकाकरण की नीतियाँ और रेलवे को टुकड़ों-टुकड़ों में निजी धन्नासेठों के हाथों में सौंप देने की मोदी सरकार की योजना ज़िम्मेदार है। यह मोदी सरकार की पूँजीपरस्त और लुटेरी नीतियों का परिणाम है। इस बात को हमें समझना होगा क्योंकि सरकारें ऐसी त्रासदियों की ज़िम्मेदारी भी जनता पर डाल देती हैं और अपने आपको कठघरे से बाहर कर देती हैं।

इस तरह की दुर्घटनाओं में मृतकों की संख्या इतनी बड़ी होने के पीछे एक कारण यह भी है कि जनरल बोगियों में मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकशों की जनता को जानवरों और भेड़-बकरियों की तरह सफ़र करने पर मजबूर होना पड़ता है। इसके पीछे एक बड़ा कारण श्रम प्रवासन भी है जिससे लोगों की आवाजाही अपनी जगहों से दूर काम ढूँढने के लिए बढ़ जाती है। क़ायदे से सरकार को रेलों और बोगियों की संख्या बढ़ानी चाहिए ताकि हर कोई मानवीय, गरिमामय और आरामदेह स्थितियों में सफ़र कर सके। साथ ही, रोज़गार के अवसर भी लोगों के रहने के स्थान पर मुहैया कराए जाने चाहिए लेकिन मोदी सरकार तो प्रवासन के बाद भी नौकरियाँ ही समाप्त करने पर आमादा है। इस दुर्घटना के बाद जिस तरह से आम लोगों के शवों को जानवरों की तरह से ट्रकों में ठूँसकर ले जाया गया, वह किसी भी सभ्य समाज को शर्मसार करने के लिए काफ़ी है।

भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI) ने उड़ीसा ट्रेन दुर्घटना में मारे गये लोगों के परिजनों से इस घटना पर गहरा शोक व्यक्त करने के साथ ही मोदी सरकार से माँग की है कि:

• उड़ीसा ट्रेन दुर्घटना की नैतिक ज़िम्मेदारी लेते हुए केन्द्रीय रेल मन्त्री अश्विनी वैष्णव इस्तीफ़ा दें।

• मृतकों के परिवारों को 10 लाख की खैरात देकर मोदी सरकार भद्दा मज़ाक बन्द करे और कम से कम रुपये 15 लाख मुआवज़ा और नौकरीशुदा या कमाने वाले सदस्य की मौत की सूरत में परिवार के एक सदस्य को पक्की सरकारी नौकरी दे। साथ ही हादसे में घायल हुए व्यक्तियों को 5 लाख मुआवज़ा दे।

• रेलवे में निजीकरण, छँटनी तथा ठेकाकरण तत्काल बन्द किया जाये।

• नियमित प्रकृति के सभी कामों पर स्थायी भर्ती की जाये।

• सभी ख़ाली पदों पर तत्काल पक्की भर्ती की जाये।

• रेलवे लोको पाइलटों की बड़ी संख्या में भर्ती की जाये ताकि उन पर काम के अमानवीय बोझ को खत्म किया जा सके। इससे दुर्घटनाओं की सम्भावना कम होती जायेगी।

• रेलवे सिग्नलिंग तन्त्र और सुरक्षा व्यवस्था को चाक-चौबन्द और सुचारु करने के लिए वहाँ भी बड़े पैमाने पर भर्तियाँ की जायें।

– भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI) का बयान

पुरोला की घटना और भाजपा के "लव जिहाद" की सच्चाई!

● अपूर्व

भाजपा और आरएसएस की राजनीति हिन्दुत्व की साम्प्रदायिक राजनीति के इर्द-गिर्द घूमती है। भाजपा और संघ परिवार लगातार ऐसे मुद्दों को उभारते रहते हैं जो उनकी साम्प्रदायिक फसल के लिए खाद-पानी का काम करें। ऐसे मुद्दे खड़े करने और उनके नाम पर लोगों को भड़काने के लिए उनके पास आनुषंगिक संगठनों और अन्धभक्त उन्मादी कार्यकर्त्ताओं की पूरी फ़ौज मौजूद है। ये प्राकृतिक घटनाओं तक से लेकर किसी भी प्रकार की सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक घटना को साम्प्रदायिक रंग देने में माहिर हैं। सत्ता के संरक्षण में ये उन्मादी अन्धभक्त, संघ और भाजपा के एजेण्डा को पूरा करने के अभियान में जुटे रहते हैं। पूरा का पूरा गोदी मीडिया हर झूठ को सौ तरह से पेश करने और नफ़रत फैलाने में इनका साथ देता है।

इनके साम्प्रदायिक प्रयोग का एक केन्द्र आजकल उत्तराखण्ड भी बना हुआ है। यहाँ पुष्कर सिंह धामी के नेतृत्व में चल रही भाजपा सरकार अपनी नाकामियों को ढँकने के लिए लगातार "लव जिहाद" और "लैंड जिहाद" का झूठा खड़ा कर रही है। पिछले कुछ महीनों से जबसे उत्तराखण्ड के मुख्यमंत्री ने "लव और लैंड जिहाद" का मुद्दा उछाला है, तबसे यहाँ के स्थानीय अख़बारों से लेकर सोशल मीडिया तक में तथाकथित "लव जिहाद" और "लैंड जिहाद" की ख़बरें और वीडियो छायी हुई हैं। हालाँकि इन घटनाओं का कोई पुलिस रिकॉर्ड नहीं है। राष्ट्रीय जाँच एजेंसी (एनआईए) तो पहले ही कह चुकी है कि देश में "लव जिहाद" का कोई मामला नहीं मिला है। फिर भी सत्ता की शह पर इस फ़र्ज़ी मुद्दे को सुर्ख़ियों में बनाये रखा गया है।

इसी तरह पिछले दिनों यहाँ पुरोला की एक घटना को साम्प्रदायिक रंग देकर इसे "लव जिहाद" का मामला बनाने की भरपूर कोशिश हिन्दुत्ववादी ताकतों ने की।

क्या है पुरोला की घटना?

उत्तरकाशी ज़िले के एक छोटे-से कस्बे पुरोला में बीते 26 मई को एक नाबालिग लड़की के "अपहरण" की कोशिश का मामला सामने आया। नाबालिग लड़की को भगाने की कोशिश करने के आरोप में जितेन्द्र सैनी और उबैद खान नाम के दो लड़कों को अगले ही दिन 27 मई को पुलिस ने गिरफ़्तार कर लिया। आम जानकारी यह है कि वह लड़की और जितेन्द्र सैनी एक-दूसरे को पसन्द करते थे। उबैद, जितेन्द्र का दोस्त होने के नाते उसके साथ पुरोला गया था। लेकिन हिन्दुत्ववादी संगठनों ने हिन्दू लड़के का नाम हटाकर केवल मुस्लिम लड़के का नाम आगे करके इसे "लव जिहाद" की घटना बताकर प्रचार शुरू कर दिया। इस घटना के तीन दिन बाद 29 मई को पूरे पुरोला में इस घटना के ख़िलाफ़ जुलूस निकाला गया।

"लव जिहाद" के नाम पर मुस्लिमों के ख़िलाफ़ इन विरोध प्रदर्शनों का सिलसिला पुरोला तक ही नहीं रुका बल्कि आगे बढ़कर बड़कोट, चिन्यासीसौड़ और भटवाटी क़स्बों तक पहुँच गया। इन जुलूसों के दौरान मुस्लिम दुकानदारों की दुकानों को निशाना बनाया गया! उनमें तोड़-फोड़ की गयी! मुसलमानों को दुकान और इलाक़ा खाली करने की चेतावनी दी गयी! उनकी दुकानों पर धमकी भरे पोस्टर चिपकाये गये! इन घटनाओं के बाद पुरोला में 14 मुस्लिम दुकानदारों ने अपनी दुकानों से सामान हटा लिया जबकि 12 दुकानदारों ने पुरोला पूरी तरह छोड़ दिया। जो मुस्लिम परिवार वहाँ पर किराये पर रह रहे हैं, उन पर दुकानें और मकान ख़ाली करने का दबाव बनाया जा रहा है। मुसलमानों के ख़िलाफ़ कुछ इसी तरह की घटनाएँ हरिद्वार, रुड़की, उधमसिंह नगर और पौड़ी में भी हुई हैं।

पुरोला में मुस्लिमों को निशाना बनाया जाना और उनके ख़िलाफ़ चेतावनी जुलूस निकाला जाना यह बताता है कि संघ और भाजपा अपने साम्प्रदायिक एजेण्डे को बहुत ही व्यवस्थित तरीके से फैलाने में सफल हुए हैं। एक छोटे से कस्बे पुरोला की घटना ने राष्ट्रीय पैमाने पर सुर्खियाँ बटोरीं और भाजपा व संघ के एजेण्डे को व्यापक हिन्दू आबादी में स्थापित करने का काम किया। वे लगातार यह प्रचार कर रहे हैं कि मुसलमानों की आबादी बढ़ रही है और उत्तराखण्ड में 'डेमोग्राफ़ी' (आबादी का अनुपात) बदल रही है। पढ़े-लिखे जाहिलों और ख़ुद को प्रबुद्ध बताने वालों का भी एक हिस्सा इस आधारहीन बकवास की चपेट में है।

उत्तराखण्ड के मुख्यमंत्री के "लव जिहाद" जैसे बयान के बाद आये दिन सोशल मीडिया और स्थानीय अखबारों में छायी इसकी ख़बरों से इस फ़ासिस्ट प्रोपेगेण्डा को लोग वास्तव में सच समझने

(पेज 6 पर जारी)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गाँधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006